

विद्रोहिणी अम्बा

(वियोगान्त एवं मौलिक नाटक)

उदयशङ्कर भट्ट

नई दिल्ली-
मंसिजीवी प्रकाशन

प्रकाशक :
मसिजीवी प्रकाशन
नई दिल्ली

वितरक:
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली : बम्बई : इलाहाबाद

मूल्य दो रुपये
सर्वाधिकार लेखक के अधीन
[प्रथम संस्करण १९६५ ई.
प्रकाशक: बनारसी दास मोतीलाल
लाहौर]
वर्तमान संस्करण ?

सुद्रक. :
श्री गोपीनाथ सेठ, 'नवीन' प्रेस, दिल्ली

पूज्य पिता
श्री फतहशंकर दुर्गाशंकर
के पवित्र चरणों में

प्राक्कथन

अम्बा की कथा पौराणिक है। महाभारत में लिखा है कि काशिराज की तीन कन्याएँ थीं—अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका। तीनों का जब स्वयंवर होने लगा तब काशिराज ने हस्तिनापुर के राजा विचित्रवीर्य को निमन्त्रण न भेजा। कारण यह था कि विचित्रवीर्य की माता सत्यवती एक धीवर की कन्या थीं, यद्यपि वह स्वर्गीय महाराज शान्तनु की पत्नी बन चुकी थीं। इस पर सत्यवती ने भीष्म को उत्तेजना देकर स्वयंवर में भेजा और स्वयंवर से काशिराज की तीनों कन्याओं को हर लिया। उनमें से बड़ी अम्बा ने पहले ही शाल्व, सौम के राजकुमार को देखकर अपने मन में उसे वर लिया था, यही नहीं उनकी परस्पर बातचीत भी हो चुकी थी। इधर अम्बिका और अम्बालिका ने विचित्रवीर्य से विवाह कर लिया। परन्तु अम्बा ने अपना प्रेम और शाल्व को वरने का पूर्ववत् प्रण भीष्म को बतलाया। इस पर सत्यवती ने उसे शाल्व के यहाँ जाने दिया। परन्तु शाल्व ने यह कहकर कि वह दूसरे द्वारा हरी हुई कन्या को नहीं वर सकता, उसे ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। इस अपमान और मान का संघर्ष ही वर्तमान नाटक का चित्रण है। इसी पौराणिक कथा को लेकर श्री उदयशंकर भट्ट ने एक उत्तम नाटक लिख डाला है, जिसमें उन्होंने तत्कालीन और आधुनिक स्त्रियों की दशा, मनुष्यों के प्रति स्पर्धा और अपने ऊपर अत्याचारों को मानकर उनसे अपने-आपको मुक्त करने का प्रयत्न तथा स्त्रियों के वर्तमान स्वतन्त्रता के विचारों को भली भाँति अम्बा एवं उनकी बहनों द्वारा प्रकट किया है। प्राचीन कथा पर अर्वाचीन विचारों को पुट देकर भट्टजी ने भूत और वर्तमान का गठबन्धन कर दिया

है और कदाचित् इसीलिए उन्होंने ऐसी कथा को चुना है जिसमें अपने विचार प्रकट करने का उन्हें पूर्ण अवसर प्राप्त हो ।

पुस्तक की कथा काशिराज के स्वप्न से प्रारम्भ होती है, जिसमें वह विदूषक से कह रहे हैं, “कोई भीमकाय मनुष्य या राक्षस उनकी तीनों कन्याओं को हरे लिये जा रहा है ।” यह अवसर भट्टजी को स्वप्न की असारता और उनके उद्भव पर अपने विचार प्रकट करने का मिल गया । ‘स्वप्न की सभी बातें असत्य होती हैं, स्वप्न पर कौन विश्वास करता है, परन्तु स्वप्न का प्रभाव तो पड़ता ही है ।’ जब अम्बा को स्वप्न का पता लगता है तो वह घबराकर विदूषक से पूछती है, “क्या स्वप्न सच्चा होता है ?” विदूषक उत्तर देता है, “कभी हो जाता है, कभी नहीं ।” बस इसी समय से उसके जीवन में एक विशेष परिवर्तन हो जाता है और वह कहती है, “विश्वास न होते हुए भी विश्वास करना ही होगा कि स्वप्न जागरण से भी अधिक भयानक होता है ।” हम देखते हैं अम्बा इससे पहले प्रकृति के आँगन में खूब मग्न है । एक जगह वह कहती है, “जिस तरह कोयले से कोहनूर, काले बादलों से बिजली और कीड़े से रेशम निकलता है उसी तरह काली रात से उषा जैसी सुन्दरी का जन्म हुआ है । किन्तु अब स्वप्न से प्रभावित होकर पिताजी के स्वप्न ने मुझे बौध-सा लिया है, विषाद मुझे दबोचे डालता है । मालूम होता है इससे मुझे प्रेम हो गया है ।” सभी सखियों उसे विषाद से हटाने की कोशिश करती हैं, परन्तु सौम के युवराज शाल्व के उसके जीवन में प्रवेश करते ही एक नवीन क्रान्ति-सी हो उठती है और उसके प्रेम का अंकुर उपज उठता है । इसी तरह भविष्य की उनींदी आँखों से भाँककर उसकी दोनों बहनें भी प्रकृति की प्रसूत कल्पना में मग्न-सी हो जाती हैं । उनमें से एक कहानी द्वारा अपने भविष्य की कल्पना करने लगती है । अम्बिका कहती है, “काली रात थी, आकाश में बादल छा रहे थे । उनसे दो बूँदें पहले फूल पर गिरी, फिर कोंटे पर लुढ़क पड़ी और अन्त में जमीन पर आ गिरी । प्यासी पृथ्वी ने उन्हें पी लिया ।” बस, यही कहानी मानो उसके भविष्य के कुँ में

परिस्थितियों द्वारा एक-एक बूँद के रूप से भरकर पूर्ण हो जाती है। जब अम्बिका और अम्बालिका विधवा हो जाती हैं, वसन्त उनके लिए फीका हो जाता है, कोयल की कूक उन्हें काटती है, मंजरी का मादक मकरन्द उन्हें विष-सा लगता है, उस समय अम्बिका फिर वही कहानी दुहराती है। यह बात नाटक में बड़े कलात्मक ढंग से कही गई है, मानो नाटककार ने एक ढाँचा तैयार करके अपने पात्रों की दिशाओं का अवलोकन कर लिया हो। इसी तरह श्री भट्टजी ने अम्बिका और अम्बालिका द्वारा स्त्रीजनोचित विचारों में एक भयंकर क्रान्ति कर डाली है। एक स्थल पर अम्बा ने गुनगुनाते हुए कहा है, “मनुष्य और स्त्री स्वर्ग के पुजारी हैं, अभिन्नता सृष्टि है और भेद विनाश का भरना है जिससे प्रलय का जल गिरकर सृष्टि को डुबा देता है।” एक वेदान्ती चाहे इस मत को स्वीकार न करे परन्तु प्रेम के पुजारी को तो भेद विनाश-सा ही ज्ञात होगा। कैसा अच्छा विचार है! प्रेम होते हुए भी अम्बा अपने प्रेमी को पास नहीं आने देती। वह कहती है: “मनुष्य जाति बड़ी निटुर है, वह स्वार्थ से प्रेम करती है, वासना की पूजा करती है और सदा से अपनी आँखों की जलन को दूसरे की आँखों के पानी से बुझाती आई है।” अम्बा के पूछने पर अम्बिका कहती है, “पुरुष और स्त्री संसार की गाड़ी के दो पहिये हैं।” यहाँ ऐसा मालूम होता है मानो इन दोनों बहनों ने मनुष्यता के भीतर घुसकर आत्मा के अभेद्य सम्बन्ध को पहचान लिया हो, उन्होंने अपने जीवन में संसार के उद्देश्य को अपना लिया हो। इसी तरह एक जगह स्वयंवर के बाद विदूषक और वृद्ध राजा में बातचीत होती है। विदूषक कहता है, “अम्बा कौन है? मैंने दासता के मोल पर अपने आँख, कान, नाक, बाणी को बेच डाला है, बुद्धि एक को ठीक मानती है परन्तु आँखें दूसरे को।”

जब अम्बा हस्तिनापुर से शाल्व के पास जाती है और शाल्व उसका तिरस्कार करते हुए कहता है, “स्त्रियों का मानापमान ही क्या?” उस समय अम्बा कहती है, “पुरुष-समाज की इतनी भृष्टता? स्त्रियों के सौन्दर्य की काँई पर फिसलने वाली पुरुष जाति ने आज से नहीं सदा से ही स्त्रियों का अपमान किया है।” एक जगह पुरुष नायक को याद करते हुए,

उसने यहाँ तक कह डाला, “पुरुष रूप से रहने वाले ‘परात्पर’ तुम्हें मेरी क्या परवाह !” इन विचारों में भीषण क्रान्ति की चिनगारियाँ उठ रही है। एक और स्थान पर अम्बिका कहती है, “यही तो समाज की मर्यादा है, असमर्थ रोगी पुरुष के विवाह के लिए एक नहीं, तीन-तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो क्या है ? हमारे अधिकार किसने छीन लिये ? समाज ने ही तो। मैं तो कहती हूँ हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी है।” क्या यह अपटूडेट महिला के विचार नहीं हैं ? एक और जगह नाटककार ने कहलाया है, “एक स्त्री के अनादर से महाभारत हुआ और दूसरी स्त्री के अनादर से भीष्म की मृत्यु हुई।” इन विचारों में हमें जो सचाई प्रतीत होती है उससे आँखें नहीं हटाई जा सकती। महाभारत-काल में भी स्त्रियों का अनादर जरूर हुआ है, इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता। ऐसा मालूम होता है ‘अम्बा’ नाटक के स्त्री पात्रों ने संसार-भर की स्त्रियों की दुर्दशा का प्रतिनिधित्व किया है। भट्टजी ने अनेक स्थानों पर नई-नई उपमाएँ देकर अपनी तीक्ष्ण निरीक्षण-शक्ति का परिचय दिया है। एक जगह वे कहते हैं, (“पलाश को अपने निर्गंध पुष्प पर भी गर्व होता है।”) एक और जगह भी, (“परन्तु वह तो डर की तरह भयावनी, दुःख की तरह वेदद और प्रतिज्ञा की तरह कठोर निकली।”) हमें मानना होगा कि एक नाटककार के रूप में श्री भट्टजी ने हिन्दी में एक नया मार्ग-प्रदर्शन किया है और वे वियोगान्त नाटक-शैली के सर्वप्रथम लेखक हैं।

श्री भट्टजी में विलक्षण प्रतिभा है, निरीक्षण-शक्ति है। मैं उनको इस कृति पर बधाई देता हूँ। प्रेम की जटिलता सुलभाते हुए भी ‘अम्बा’ में अश्लील शृङ्गार की गन्ध नहीं आने पाई। यही इस नाटक की सत्रसे बड़ी विशेषता है। नाटक बालक-बालिकाओं के हाथ में देने योग्य है। हमें विश्वास है कि विश्वविद्यालयों की पाठ्य-समितियों तथा रंगमंच इसे अपने यहाँ स्थान देकर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय देगे।

छतरपुर

—रायबहादुर चम्पाराम मिश्र

अपनी बात—

आज मैं हिन्दी-जगत् के सामने अपना तीसरा वियोगान्त नाटक लेकर उपस्थित हो रहा हूँ। यह पौराणिक नाटक है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। महाभारत में भीष्म का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके जीवन में उत्कान्ति मचा देने वाला 'टर्निंग पाइण्ट' सत्यवती के राज्य-मद के पूर्व से प्रारम्भ होता है। बस, उसी क्षण से देवव्रत 'भीष्म' बन जाते हैं। किन्तु एक सबसे बड़ी घटना, जिसने मृत्युञ्जय भीष्म को आजीवन बकोटा, उनके विवेक को नौचा, उनकी धमनियों को आन्दोलित किया, उनके हृदय को भयभीत कर दिया और उनकी आत्मा को रुला डाला; वह है श्रम्बा से उनका संघर्ष। श्रम्बा उनके जीवन के निरभ्र निशीथ में चुपचाप आकर खडी हो गई—कर्तव्य और विवेक की टकटकी लगाकर निरुद्देश्य एवं बहुत ही साधारण दृष्टि में अकस्मात् आकर प्रतिबिम्बित हो गई। इस प्रतिच्छाया में सर्वप्रथम जितनी उपेक्षा, जितनी उदासीनता थी वह चित्रपट के समान स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई, जिसने भीष्म को उस लिया और अन्त में वे उसी पश्चाताप, उसी प्रायश्चित्त की न बुझने वाली आग में जल गए।

भीष्म के इस काम को महाभारत ने किस दृष्टि से देखा है यह मैं कहना नहीं चाहता। महाभारत अगाध समुद्र के समान है जिसमें एक विचार की उत्कट लहर को प्रतियोगिनी लहरो ने कई बार दबोचा है, कई बार एक क्रिया को प्रतिक्रियाओं ने जड़ से उखाड़ डाला है, कई बार तर्क ने विश्वास पर विजय पाई है, कई बार स्वर्ग ने संसार को निस्तेज कर डाला है। इसीलिए प्रस्तुत भीष्म को महाभारत की कसौटी पर कसना निरर्थक है। हम लोग संसारी जीव हैं। संसार की परिधि से बाहर देखने के आदी हम लोग जरूर रहे हैं, परन्तु यह मैं कैसे कहूँ कि वह 'भ्रान्त कल्पना' थी। इतना कहने के लिए जिस साहस की आवश्यकता है वह मुझमें नहीं है। मैं तो केवल इतना ही कहूँगा कि हमने अपने संसार को भी देखा

चाहिए। उसके अन्तर में कितना भीषण युद्ध होता है छोटी-सी बात पर, इसे भुला न देना चाहिए।

हममें से 'सत्यं ब्रूयात्' बहुतों ने सुना है, पर 'सत्यं कुर्यात्' कितनी बार आया है यह तो कही पड़ा है ऐसा याद नहीं आता। सत्य कह देने से 'सत्य करना' बहुत अच्छा है। इसमें शायद किसी शास्त्र को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आपत्ति होने पर भी तो कोई शास्त्र इसके निषेध का साहस नहीं कर सकता। कदाचित् भीष्म ने भी 'सत्यं ब्रूयात्' का यथार्थ अर्थ 'सत्य बोलना'-भर ही निश्चित किया था। 'सत्यं कुर्यात्' उस समय के मानव-विधान में क्षीण और दुर्बल रेखा में दिखलाई पड़ता है। यदि 'सत्यं ब्रूयात्' की जगह 'सत्यं कुर्यात्' पर अधिक जोर दिया जाता तो शायद संसार का इतिहास लिखने की आवश्यकता न पड़ती। विधि-विधान संसार में एक नाम-मात्र की चीज रह जाती, उस समय घटनाएँ अभाव को कहते, संघर्ष मनुष्यता के बाहर समझा जाता, पाप 'कहने' की वस्तु होती। परन्तु ऐसा नहीं हुआ, शायद हो भी नहीं सकता था। इसलिए शास्त्रों ने 'सत्यं कुर्यात्' पर जोर नहीं दिया। यह एक तरह से अच्छा ही हुआ; और शायद इसीलिए महाभारत में केवल अभ्यास के लिए बनावटी लड़ाई में प्रतिद्वन्द्वी की कल्पना की जाती थी। होती क्यों न? लड़कियों छुटपन से ही गुड़ियों और गुड़ों के व्याह द्वारा अपना भविष्य बनाती हैं। माँ भी बालक को बनावटी दंग से रूठना सिखला ही देती है और स्वयं रूठकर एक उज्ज्वल आनन्द का अनुभव करती है, जिसमें 'सत्यं ब्रूयात्' का तो कदाचित् कुछ अंश होगा, पर 'सत्यं कुर्यात्' तो नाम-मात्र को भी नहीं है। मैंने अपने इन पात्रों में भी वही छूटा देखी है। अबलाओं के छलछलाते हुए मन्द-मन्द अश्रु-पात द्वारा कई पात्र मेरे सामने आकर रोये हैं और अन्त में सदा हँसने की प्रतिज्ञा-सी करने वाले विदूषक ने भी "मैंने तो सदा से सबेरे को सौम्य की ओर बढ़ते देखा है" कहकर मुझे जी भरकर रलाया है। कहा नहीं जा सकता वे पात्र स्वयं इतनी दूर चले गए हैं या मैंने उन्हें खदेड़ा है। लेकिन इतना

तो जरूर कहूँगा कि मुझमें उन्हें उतनी दूर खदेड़ने की सामर्थ्य नहीं थी।

भीष्म महाभारत के बहुत ऊँचे पात्र हैं। उनके पास जाते हुए मुझे सदा डर लगता रहा है, पर अम्बा ने उनके पीछे दौड़कर मुझे बेतरह दौड़ाया है। हाँ, अम्बा ने उन्हें पकड़ जरूर लिया है। लेकिन मैं भी भीष्म को पकड़ पाया हूँ इसमें अभी मैं बहुत संदिग्ध हूँ। अम्बिका और अम्बालिका के व्यंग्य और मर्मभेदी विचारों में लचीले पाठकों को उत्कट क्रान्ति की 'भ्रान्ति' होगी; पर वह सत्य भी हो ही सकती है। विदूषक ने जरूर मुझे बहुत तग किया है। कभी-कभी मैं उससे बेतरह खीझ भी उठा हूँ। लेकिन उसकी मीठी और कटीली कचोटन में मुझे आनन्द भी मिला है। काशिराज के सामने स्वप्न एक पहेली बनकर आया और वे उसी पहेली में अन्तर्लीन हो गए। उनके सन्देह में, उनकी निराशा में और उनके सुख में स्वप्न ने जिस विकराल दृष्टि से झोंका है उससे वे कभी मुक्त न हुए। सत्यवती ने उजली आँखों के कोयों के पास बिखरी हुई कालोच देखी, उसने विषमता और समता को मिलाकर संसार में जिस निराशा की धारा बहा दी उससे वह स्वयं कभी न निकल सकी। उसके अनन्त यौवन ने अनन्त पीड़ा का परिधान पहना। एक बार, केवल एक बार वह अपने जीवन में हँसी, उसके बाद वह सदा रोती ही रही। इस चरित्र ने विलास की आँखों से छलककर आँसुओं की सोंसे लीं और दुःख के घने प्रवाह में अपने मीठे और सुनहले संसार को सदा के लिए डुबा दिया।

नाटक की यूनिटी के लिए मुझे अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ा है। वह तो स्वयं वैसे ही हो गया है। मेरे पात्र मेरे अपने ही हैं, यह मैं कैसे कहूँ? विषमता और समता दोनों का ही नाम तो सृष्टि है। साधारण दर्शक को हरियाली, पहाड़, नदियाँ, वन, महावन सब एकसे हैं। भिन्न-भिन्न हृदयों की जिस धड़कन से, आत्मा की जिस विषम घुँज से हमारा जीवन-प्रवाह बहता है वह तो एक ही है। एक दिशा में हमारा अनन्त संसार मनुष्यता की भ्रामक कल्पनाओं के भीतर धीरे-धीरे घुसता है, वहाँ से अनुमान के सहारे अकड़ता हुआ जीवन-सुधा से सलिल, सलिल से विष और

विष से नाश की ओर दौड़ता है और कभी-कभी सीधा एक ही प्रवाह में बहकर अमृत भी बना रहता है। यह तो प्रवाह की गति है, समय का स्रोत है, परिस्थितियों की चट्टानें हैं, जैसा जो कुछ भी मिल जाय, सामने पड़ जाय। इसे हम नकल नहीं कह सकते। ऐसा करके तो सृष्टि के प्रारम्भिक विकास को रोक देना पड़ेगा। मेरे पात्रों ने यदि महाभारत की गुफा से निकलकर वस्तुस्थिति को ठोक-बजाकर जोंचा और वर्तमान के जीवन में घुसकर एक नई दिशा देखी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

मुझे प्रसन्नता है कि साहित्य के पारखियों, विश्व-विद्यालयों के सदस्यों, अध्यापकों और अन्य पाठक-वर्ग ने मेरे नाटकों को अपनाया है, आलोचनाएँ की हैं, चाव से पढ़ा है, दाद दी है, सन्देश भेजे हैं। इसके लिए मैं केवल इतना ही कहूँगा कि उन्होंने अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया है और मैंने निश्चल साहित्य-सेवा का, जिसमें पहला है साधन और दूसरा है गतिमान ध्येय।

एक बात और—

कुछ आलोचकों का मत है कि 'आधुनिक नाटककार प्रसाद की नाटक-मर्यादा से आगे नहीं बढ़ा है। प्रसादजी ने नाटकीय उत्कृष्टता की जो सीमा-ढेखा बाँध दी है वह अभी तक वहीं है।' मैं नहीं जानता कि उनका यह मत कहाँ तक ग्राह्य है। किन्तु अपने सम्बन्ध में मैं कह सकता हूँ कि उन आलोचकों का यह मत ठीक नहीं है। प्रसाद की नाट्य-सीमाएँ होंगी। किन्तु जैसे काव्य का क्षेत्र उनके बाद अपनी दिशा में निरपेक्ष होकर आगे बढ़ा है, उसी तरह नाटक भी प्रसाद के माइल स्टोन से कहीं आगे बढ़ गया है। उसका अपना यथार्थवाद तथा तीक्ष्णता के मार्ग में प्रशस्त जनवाद प्रसाद से कई मंजिलें आगे आ गया है। वर्तमान नाटकों में प्रसाद की छाया हूँ दूना आलोचकों की रुढ़िप्रियता एवं मूढ़ग्राह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मेरा नाटक-साहित्य स्वयं अपनी एक दिशा है, एक प्रकाश है जो अपने पात्रों के जीवन से आलोकित है। देखने की क्षमता चाहिए।

तिब्बिया कालिज क्वार्टर्स
करौल बाग, नई दिल्ली }

उदयशंकर भट्ट

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

व्यासदेव	महाभारत के कर्ता
काशिराज	काशी का राजा
(देवव्रत-भोष्म)	शान्तनु का पुत्र
चित्रांगद	„
विचित्रवीर्य	„
परशुराम	क्षत्रियों को जीतने वाले
विरूपाक्ष	काशिराज का विदूषक
वृद्धश्रवा	एक बूढ़ा राजा
शाल्व	सौभराज
चित्रसेन	गन्धर्वों का राजा
श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, मंत्री तथा विदूषक आदि	

स्त्री-पात्र

अम्बा	काशिराज की कन्या
अम्बिका	„
अम्बालिका	„
सत्यवती	शान्तनु की स्त्री
परिचारिका, सखियाँ आदि	

प्रथम अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—काशिराज का उद्यान

(वे प्रातःकाल के समय अकेले उसमें घूम रहे हैं ।)

काशिराज—अशुभ, महा अशुभ, ऐसा स्वप्न क्या कभी देखा था ! वह तो जैसे मेरी आँखों के आगे अभी तक भूम रहा है । एक गोरे रंग का विकट आदमी मेरी कन्याओं को जबरदस्ती उठाए लिये जा रहा है । ईस्पात की तरह कठोर शरीर, आँखों में एक अपूर्व तेज, मुँह पर विलक्षण चमक, शरीर में राक्षसों जैसा अथक बल...ओह...बड़ा विलक्षण स्वप्न...(एक ओर देखते हुए) ठीक वैसा ही । अरे इतना डर व्यर्थ है, स्वप्न सत्य नहीं हो सकता । नहीं, नहीं, स्वप्न पर विश्वास नहीं करना चाहिए । स्वप्न...।

(विदूषक का प्रवेश)

कौन, क्या तुम हो विदूषक ?

विदूषक—(अपने अंगों की ओर देखकर) जी, क्या मैं नहीं हूँ महाराज ? ठीक हूँ तो मैं ही, विशुद्ध विरूपाक्ष ! विदूषक !

काशिराज—भ्रम हुआ ।

विदूषक—भ्रम, (कुछ सोचकर) मैं हूँ तो विदूषक ही । (गम्भीरता

से) ओह, अब तो मुझे अपने ऊपर भी विश्वास नहीं रहा !
(आगे बढ़कर) ठहरिये, दूर खड़े होकर आप मुझे एक बार पुकार
देखिये न ! यदि मैं विदूषक हुआ तो अवश्य....।

काशिराज—नहीं ब्राह्मण, (विचार-मग्न होकर) पर, यह मैं
कैसे कहूँ कि यह सत्य नहीं होगा !

विदूषक—अरे, तो क्या मेरी सचाई में भी सन्देह है ? अब
तो मुझे कोई ठीक-ठीक प्रमाण ढूँढ़ना ही....।

काशिराज—राक्षस जैसा बली....(टहलने लगते हैं ।)

विदूषक—लो और सुनो—राक्षस जैसा बली ! नहीं, अब यह
सब नहीं सहा जा सकता । महाराज को मैं राक्षस जैसा....(आगे
बढ़कर) महाराज, आपका यह विचार असत्य है, असत्य....।

काशिराज—(पीछे घूमकर) असत्य, असत्य कैसे, क्या सभी
बातें....स्वप्न....।

विदूषक—बिलकुल असत्य, सर्वथा असत्य, राक्षस जैसा
बल....।

काशिराज—हाँ ब्राह्मण, राक्षस जैसा बल तो था ही ।

विदूषक—केवल मोदक-भोजी, क्षीण, दुर्बल, कृशकाय पुरुष
को आप ऐसा बता रहे हैं ! मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ
कि मैं स्वप्न और जागृति में एक ही हूँ । सत्य हूँ महाराज ! यह
केवल वेदान्त की कल्पना....।

काशिराज—(विदूषक की ओर घूमकर) तुम क्या कह रहे हो,
कुछ समझ में नहीं आता !

विदूषक—(अकड़कर) महाराज, आप जो कह रहे हैं वह भी तो... परन्तु विश्वास रखिये मैं भी सत्य ही विदूषक हूँ ।

काशिराज—तुम पागल तो नहीं हुए ?

विदूषक—पागल, हा विधाता, आज प्रातःकाल यह भी सुनना पड़ा ! महाराज, मैं पागल कैसे ? अरे, क्या मैं पागल हूँ, निश्चय ही महाराज, मैं पागल...।

काशिराज—(हँसकर) ब्राह्मण, आज प्रातःकाल ही तुम्हें क्या हो गया ?

विदूषक—कुछ भी तो नहीं महाराज, मैं प्रमाण दे सकता हूँ कि मैं पागल नहीं हूँ । आपका विचार...।

काशिराज—(फिर कुछ गम्भीर होकर) परन्तु मैंने जो देखा वह असत्य कैसे हो सकता है । मैंने स्पष्ट देखा कि एक गौर वर्ण का अधेड़ युवक मेरी तीनों कन्याओं को उठाए लिये...।

विदूषक—(घबराकर) कब, कब ?

काशिराज—स्वप्न में ब्राह्मण, स्वप्न में; ओह, ऐसा क्या कभी देखा था, तीनों कन्याओं को !

विदूषक—धत्तेरे की, क्या यह सब स्वप्न-चर्चा थी महाराज ?

काशिराज—उस स्वप्न की स्मृति आते ही मैं जैसे बेचैन-सा हो उठता हूँ ।

विदूषक—स्वप्न भूठ होता है महाराज ! स्वप्न पर विश्वास नहीं करना चाहिए । ज्ञानिय स्वप्न का निर्माण करता है ।

काशिराज—स्वप्न पर विश्वास कौन करता है, स्वप्न की घटनाएँ स्वयं एक विश्वास के पृष्ठों पर लिखी जाकर मुझे जैसे अपनी ओर खींच रही हैं। हृदय मोम के समान बहुत कोमल पदार्थ है, जिस पर घटनाएँ और संस्कार मोहर की तरह अपना प्रभाव डालते हैं। चाहे जिस अवस्था में वे घटनाएँ हों मनुष्य के हृदय पर उनका प्रभाव पड़ता ही है।

विदूषक—महाराज, स्वप्न जाग्रत अवस्था से भिन्न है, इस लिए स्वप्न की बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। वह निर्बलता है। यह देखिये कुमारी अम्बा आ रही हैं—

(अम्बा का प्रवेश)

काशिराज—(दौड़कर आगे बढ़ता हुआ) आओ बेटी, मैं तुम्हें देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। अहा, क्या सुन्दर भोला मुख है !

विदूषक—ठीक है महाराज !

अम्बा—(इधर-उधर देखकर) पिताजी, कल्पना का नाम संसार है। उपा संसार के तबले पर प्रातःकाल के पवन का ठेका लगते ही निशा की माँगों में सुनहला ईश्वर लगाकर लजीली आँखों से उसकी ओर निहारती है—उस समय कैसा मधुर...

विदूषक—अरे, कहाँ कुछ भी तो नहीं दिखाई देता कुमारी जी, क्या सचमुच ?

काशिराज—(प्रसन्न होकर) सुन्दर कल्पना है।

विदूषक—(एक ओर को देखकर) आँखों में मिचौने हाथ लगते ही आँसू निकल पड़ते हैं, लोग समझते हैं मैं रोता हूँ, पर वे लोग यह नहीं जानते कि मैं क्यों रोने लगा ! मैं कभी नहीं रो सकता । भूठ है, बिलकुल भूठ... ।

अम्बा—जिस तरह कोयले से कोहनूर, काले बदलों से बिजली और कीड़े से रेशम निकलता है उसी तरह काली रात से उपा जैसी सुन्दरी का जन्म हुआ है ।

काशिराज—ठीक है बेटा, परन्तु ओह, कैसा भयानक है वह... !

अम्बा—पिताजी, भयानक क्या ?

काशिराज—कुछ भी तो नहीं ।

विदूषक—(और जोर से) हाँ एक बात है, आँसुओं में भी एक अजब तरह का खिंचाव है । बच्चे की आँखों से नन्हे-नन्हे आँसुओं की वूँदें निकलते ही माँ का हृदय बौखला उठता है । ठीक, याद आया । माता की आँखों में आँसुओं की जंजीरें लटकती देखकर पिताजी भी कई बार बौखला उठे थे । यह समझ में नहीं आया, क्यों ?

काशिराज—(विदूषक की ओर देखकर) क्या कहा ?

विदूषक—एक कल्पना है महाराज !

अम्बा—विदूषक जी घर की कोई कथा कह रहे हैं ।

विदूषक—(अकड़कर) यह घर की कथा है, इसी का नाम कल्पना है, साक्षात् कल्पना ।

काशिराज—इस स्वप्न का क्या प्रतिकार है ?

विदूषक—प्रतिकार, (सोचकर) प्रतिकार तो ब्राह्मण-भोजन ही है। लड्डुओं का भोजन ब्राह्मण जाति को विशेष प्रिय है। है। वह ही इस स्वप्न का सत्य प्रतिकार है। अहा, प्रातः-काल ही मोदक का नाम याद आने पर जैसे मुझे कोई पिछली बात याद आ गई। एक बार की बात है, महाराज की ओर से मुझे निमन्त्रण मिला। पर वैसा निमन्त्रण क्या कभी मिला था ! नहीं, वह, भोजन...गोल-गोल, बड़े-बड़े लड्डू...।

काशिराज—भविष्य मानो स्वप्न की आँखों से घूरता हुआ मेरी ओर चला आ रहा है। अपहरण की कथा होनहार के घने काले बादलों से झाँककर जैसे मेरे कान में आकर इस स्वप्न को गुनगुना रही है। नहीं, यह मैं नहीं होने दूँगा। प्राणों की बाजी लगाकर सर्वस्व का पासा खेलकर मैं इनकी रक्षा करूँगा। (एक ओर तेजी से चले जाते हैं ।)

अम्बा—विदूषक !

विदूषक—कुमारी !

अम्बा—यह सब क्या देख रही हूँ, पिताजी को क्या हो गया ?

विदूषक—महाराज ने रात को एक स्वप्न देखा था।

अम्बा—कैसा स्वप्न ?

विदूषक—एक राक्षस जैसा बली पुरुष तुम तीनों बहनों को

उठाए लिये जा रहा है ।

अम्बा—हम तीनों बहनों को ?

विदूषक—हाँ, महाराज उसी समय से चिन्ता में लीन हैं ।

अम्बा—महाराज उसी चिन्ता में लीन हैं ?

विदूषक—हाँ, महाराज उसी चिन्ता में लीन हैं ।

अम्बा—क्यों, क्या स्वप्न सच्चा होता है ?

विदूषक—सच्चा तो नहीं होता, शायद हो भी जाता हो ।

अम्बा—तुम क्या जानते हो ?

विदूषक—यही कि कभी हो जाता है, कभी नहीं ।

अम्बा—पर यह तो असम्भव जान पड़ता है ?

विदूषक—हाँ, जान तो असम्भव ही पड़ता है ।

अम्बा—असम्भव क्यों जान पड़ता है ?

विदूषक—मैं क्या जानूँ ?

अम्बा—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता; ऐसा नहीं हो सकता ।

यह स्वप्न सत्य नहीं हो सकता ।

विदूषक—और हो भी जाय तो मैं क्या कह सकता हूँ, मैं तो विदूषक हूँ, जिसका अपना कुछ भी नहीं । अपने-आप कुछ भी नहीं जानता । जानने की आवश्यकता भी तो नहीं । मेरा दूसरा नाम प्रतिध्वनि है । चलो देखूँ, महाराज के किस स्वर से मेरा स्वर मिलता है । (जाता है ।)

(पट-परिवर्तन)

दूसरा दृश्य

स्थान—गंगा का किनारा

(अम्बा का दो सखियों के साथ प्रवेश)

अम्बा—(बेचैनी से घूमती हुई) अब तो यह न कहते हुए भी कहना ही होगा, विश्वास न होते हुए भी विश्वास करना ही होगा कि स्वप्न जागरण से भी अधिक भयानक होता है, नहीं तो पिताजी को वह स्वप्न इतना बेचैन क्यों कर डालता ?

पहली सखी—(दूसरी से) समझ में नहीं आता, कुमारी जी को क्या चिन्ता है ?

दूसरी—इतना सुन्दर, सुहावना समय और इस समय चिन्ता, समझ तो मैं भी न पाई। समझने की आवश्यकता भी नहीं है। आकाश में मेघ छा रहे हैं। समीर हिम-शृङ्गों का आलिङ्गन करके प्रकृति के यौवन पर हृदय उँडेलने दूट पड़ा है।

पहली—अरी निठुर, तुझे प्रकृति के पंखों पर नाचने की सूझी है, इधर हमारी सखी को कोई गहरी चिन्ता सता रही है। एक तो कुमारी अम्बा स्वभाव से ही गम्भीर है, उस पर...

दूसरी—फिर किया क्या जाय सखी, (दुःख की छोटी बहन का नाम चिन्ता है)

अम्बा—(पीछे घूमकर) हाँ, चिन्ता दुःख की छोटी बहन है, यह ठीक है। गरमी के दिनों में बहुत-कुछ उपचार करने पर भी जब मध्याह्न-सूर्य की किरणें दीवार फोड़कर घर में घुस आती हैं तब बेचैनी तो होती है। हजारों प्रयत्न करने पर भी

शीत ऋतु को ग्रीष्म नहीं बनाया जा सकता ।

दूसरी—परन्तु कुमारी ...?

अम्बा—परन्तु क्या, सचमुच वह स्वप्न सत्य होगा ? प्रातः-काल तारों को अपने हृदय का उल्लास लिये विकास के उग्र नशे में बेसुध होकर सो जाते देखा है । मैं नित्य ही चन्द्रमा के शीतल स्निग्ध कोनों को विष-भरे नीले आकाश द्वारा चुम्बित होते देखती हूँ । क्या मेरा भी आज वैसा ही प्रातःकाल है ? गंगा के प्रकम्पित प्रवाह में मुझे आज एक और ध्वनि सुनाई दे रही है ।

दूसरी—(आश्चर्य से) क्या ?

पहली—कैसी-कैसी ?

अम्बा—तुम उसे सुनकर क्या करोगी ? इस स्वप्न का सम्बन्ध मुझसे है, मेरी बहनों से है । जीवन-मरण का प्रश्न है । नहीं, यह नहीं हो सकेगा ।

पहली—(दूसरी से) आज कुमारी जी को कोई गहरी चिन्ता है ।

दूसरी—(पास जाकर) राजकुमारी, इस जग में सब-कुछ है—दुःख भी और सुख भी, आग भी और पानी भी । परन्तु जो मनुष्य जलते हुए घर को बुझाने के लिए पानी के स्थान में आग ही लाकर डालने का यत्न करे उसे क्या कहा जाय ? माना दुःख अधिक है, पर जीवन का दूसरा नाम सुख की खोज भी तो है । संसार में दुखों से सुखों को खोज निकालने का नाम ही तो जीवन

की सार्थकता है। उस समय यश, मान और वैभव के विशाल रूपों में जीवन मधुर राग द्वारा दुखी आत्मा को तृप्त करता है। वषा होने पर सभी वृक्ष लहलहा उठते हैं। परन्तु उस आक के पौधे को क्या कहा जाय जो सूखकर अपने रहे-सहे कुछ पत्ते भी खो बैठता है।

अम्बा—(सोती हुई-सी जागकर) प्यारी सखी, तूने ठीक कहा—“परन्तु उस आक के पौधे को क्या कहा जाय जो सूखकर अपने रहे-सहे पत्ते भी खो बैठता है।” ठीक है। पर मैं क्या करूँ, पिताजी के स्वप्न ने जैसे मुझे भी बाँध लिया हो, विषाद जैसे मुझे दबोचे डालता हो। मालूम होता है कोई मेरे कानों में आकर पिताजी के स्वप्न को दुहरा रहा है।

दूसरी सखी—[विषाद से प्रेम का दूसरा नाम है मृत्यु से प्रेम] बहन, छोड़ो इस व्यर्थ की चिन्ता को। देखो, यह नदी कितनी सज्जधज से हृदय में उल्लास छिपाए, ऊँचे-नीचे मार्ग से सरगम पर ताल देकर, उमंगों से नाचती हुई जा रही है! क्या इसमें आनन्द नहीं है, क्या फूलों का उन्मादी मधु पीकर संसार को सुख में बेसुध बना डालने वाले समीर की मस्त थिरकन में तुम्हें कुछ भी सुख नहीं मिलता ?

अम्बा—मैं जानती हूँ, किन्तु यह स्वप्न तो जैसे सत्य बनकर मेरे हृदय में आशंका भर रहा है। इधर स्वयंवर के समय इस तरह का स्वप्न...। यदि ऐसा हुआ तो...मैं विद्रोह करूँगी, प्राणान्त विद्रोह...। समर्पण मृत्यु है।

दूसरी—इधर देखो, वही पुलकित पवन गंगा की तरंगों का आलिंगन करके कैसी भूम रही है, तरंगों पवन के स्पर्श से उन्मादिनी-सी होकर ऊपर को उछल रही हैं, कहीं ऊँची और नीची; मानो आनन्द के उभार में शिथिलता भलक पड़ती हो ।

(दूर से एक व्यक्ति आता दिखाई देता है ।)

अम्बा—यह कौन हैं, पहले तो इन्हें कभी नहीं देखा ?

पहली—जिन्हें पहले कभी नहीं देखा उन्हें भी कभी-कभी देखना ही पड़ता है कुमारी !

अम्बा—(हँसकर) और न देखूँ तो ?

दूसरी—फिर भी देखना तो होगा और ऐसे स्थान पर देखने के बाद एक हो बात शेष रह जाती है...

पहली—कि तुम कौन हो ?

(शाल्व पास आ जाते हैं ।)

शाल्व—अशान्त हृदय की बोणा में आसावरी का मधुर राग गाने वाली तुम कौन हो ? अहा, विधाता के सब प्रयत्नों का जोवित प्रयास...? इसमें कलियों की मुसकान, हिम की शीतलता, चन्द्र का आह्लाद और हृदय की बेसुधी...सब-कुछ, एक ही जगह सब...। क्या यही है मेरे प्राणों का स्वप्न, मेरे प्रेम-संस्कारों की प्रतिमा ? कितनी सुन्दर है उस चित्र की प्रति-मूर्ति, जिसको वरण करने के लिए मैं स्वयंवर में आया हूँ !

अम्बा—कितना सुन्दर है यह युवक ! क्या यह वही है वही, जिसकी छाया-मूर्ति मेरे प्राणों में चिरकाल से बस रही है ?

पहली सखी—कोई राजकुमार है

अम्बा—विश्वास की तरह मधुर !

दूसरी सखी—स्वयंवर के लिए बहुत से राजकुमार आ रहे हैं।

(दो सिपाहियों के साथ विदूषक का प्रवेश)

विदूषक—चुप, कुछ खोपड़ी का भी ध्यान है ? (दोनों सखियों से) तुम्हें कुछ और काम नहीं है क्या, जो कुमारी अम्बा को इस झुलसती हुई रेत में, अनन्त गम्भीर नदी के तट पर दोपहरी में लिये फिरती हो, यदि कोई डूब जाय तो ?

शाल्व—(धीरे से) यही हैं कुमारी अम्बा । मन आश्वस्त हुआ ।
क्षत्रिय का मन अन्य जगह नहीं जा सकता ।

पहली—आइए विदूषक जी, आप इधर कैसे लुढ़क पड़े ?

अम्बा—मुझे इन सखियों ने न मालूम कहाँ लाकर...

विदूषक—वही तो मैं भी कहता हूँ इन ब्राह्मण कन्याओं से—
मैंने इसीलिए विवाह नहीं किया—क्या कहा जाय, सिर पर पैर
रखकर चलती हैं, सिर पर पैर ।

पहली—विदूषक जी, भला तुमने कभी यह भी सोचा है कि
तुम किसलिए जी रहे हो ?

दूसरी—और मरोगे किसलिए ?

विदूषक—बताऊँ मैं किसलिए जी रहा हूँ ? (शाल्व की ओर देखकर) हैं, यह कौन है ? (शाल्व से) महाशय, आप कन्धे पर धनुष रखे, भारी-भरकम देह का बोझ संभाले कौन हैं ? यहाँ किसलिए... यह युद्ध-स्थान नहीं है महाशय ?

शाल्व—मैं सौभ का युवराज शाल्व हूँ ।

अम्बा—(धीरे से) युवराज शाल्व, हृदयाराध्य !

पहली—क्या आप ही पितृ-भक्त कुमार शाल्व हैं ?

विदूषक—और स्वयं मैं ?

एक सिपाही—आप महाराज के विदूषक हैं ।

विदूषक—(सिपाही से) तुम्हें बोलने का कुछ भी अधिकार नहीं है समझे । नहीं, मैं विदूषक नहीं हूँ । मैं विरूपाक्ष हूँ विरूपाक्ष, समझे राजकुमार, परन्तु इससे क्या, मैं विदूषक भी तो हो ही सकता हूँ । मान लो मैं विदूषक ही हूँ । तुम कौन होते हो मूर्ख, मुझे विदूषक बताने वाले ? इससे तुम्हारा क्या आता-जाता है ? मैं विशुद्ध विरूपाक्ष हूँ । यह सुनकर भी तुम्हें खेद तो नहीं होना चाहिए । और विदूषक होने से कोई बुराई तो हो ही नहीं सकती ।

शाल्व—(हँसकर) ठीक, मालूम हुआ । तुम महाराज काशिराज के विदूषक हो ।

विदूषक—मालूम हुआ तो ठीक हुआ । न मालूम होता तो भी ठीक होता । यह नहीं कहा जा सकता, ठीक क्या है ?

एक सिपाही—अब आप कुमारी जी को लेकर लौटियेगा भी...?

विदूषक—हाँ भाई, तुम ठीक कहते हो । मैं विदूषक जो हुआ इसीसे कुमारी अम्बा को लेकर लौटना होगा । लौट चलना

होगा । चलो, कुमारी अम्बा चलो और काँटो (सखियों से) तुम भी चलो ।

सखियाँ—क्या हम काँटा हैं जलमुए ?

विदूषक—काँटा, फूल में काँटे की तरह तुम अम्बा के साथ फिरती हो । काँटा तो तुम्हें कहना ही होगा । हम ब्राह्मणों के लिए तो तुम काँटा हो । वाह, क्या सुन्दर घोषणा है जलमुए ! ब्राह्मण अग्निमुख होते हैं, इसलिए यह विशेषण सब तरह से ठीक है । (सब एक ओर को चले जाते हैं, केवल शाल्व रह जाते हैं ।)

शाल्व—(उस ओर देखकर) अहा, पृथ्वी पर उतरा हुआ चन्द्रमा कितना मोहक है ! अनन्त के भरोखे से एक तारा सर-सराता हुआ नीचे उतरा और न मालूम किस दिशा को चला गया । हाँ, उसकी क्षीण रेखा हृदयाकाश में अभी तक मौजूद है । अम्बा कितना सुन्दर नाम है ! मैं मर्यादावश उसे एक बार दृष्टि भरकर देख भी न पाया । उस कुलीना ने भी मुझे देखकर दृष्टि फेर ली । मैं इसी हेतु आया था कि चित्रस्थ काशिराज की कन्या को प्रत्यक्ष रूप से एक बार किसी तरह देख पाऊँ । सम्पूर्ण साहस को एकत्र करना होगा । करूँगा, यही मेरा स्वप्न है । स्वप्न को सत्य होना ही चाहिए ।

(जाता है ।)

(पट-परिवर्तन)

तीसरा दृश्य

स्थान—हस्तिनापुर के अन्तःपुर का एक भाग

(चित्राङ्गदा और विचित्रवीर्य बैठे हैं ।)

विचित्र०—संसार अन्तरो की विस्मय-भरी घटनाओं का भण्डार है। हम तीनों एक ही पिता के पुत्र हैं, परन्तु भैया भीष्म और हम दोनों में कितना अन्तर है। वे वीर, सत्यव्रती, दयालु हैं और हम डरपोक, निर्वीर्य। उनका त्याग कितना महान् है, वे चाहें तो संसार को जीत सकते हैं।

चित्रा०—इससे क्या, उनकी ही कायरता से हमारा जन्म हुआ है। मैं इस त्याग को भी कायरता ही कहता हूँ। यदि वे वृद्ध पिता की आज्ञा-पालन न कर उनके अधर्म का साथ न देते तो इस संसार में हमारे जैसे निर्वीर्य, कमजोर और कायरों का जन्म न होता। आज राज्य की गति ही बदली दिखाई पड़ती विचित्र !

विचित्र०—(आश्चर्य से) तो क्या पितृ-भक्ति धर्म नहीं है।

चित्रा०—हो सकती है, परन्तु समाज की रक्षा उससे भी बड़ा धर्म है। किसी बूढ़े, ढलती जवानी के पुरुष को क्या अधिकार है कि वह पुत्र के सुख को हत्या करके अपने सुख की कल्पना में संसार और समाज का अहित करे ?

विचित्र०—गुरुजनों का चरित्र आक्षेप योग्य नहीं होता भैया ! क्या उनके सामने यह कह सकते हो ?

चित्रा०—केवल बड़प्पन की रक्षा के लिए मैं उनके सामने कुछ नहीं कहता ।

विचित्र०—यह भी खूब रही । क्या समाज की रक्षा के सामने तुम बड़प्पन की रक्षा उचित समझते हो ? अभी तो तुमने व्यक्ति से समाज को ऊँचा बताया था ।

चित्रा०—ठीक है, पर अब उस गति को कौन भेट सकता है ? पिता ने जो-कुछ किया उसका फल तो हमें ही भोगना पड़ रहा है । अब उसमें भैया क्या कर सकते हैं ?

विचित्र०—तो क्या तुम व्यक्तिगत धर्म से समाज-धर्म को बड़ा मानते हो ?

चित्रा०—बहुत बड़ा । यह ठीक है कि व्यक्ति से समाज बनता है । उस समाज के सामने हमें वैयक्तिक धर्म को तिलांजलि देनी चाहिए । परन्तु पिता का बूढ़ी उमर में एक अनन्त-यौवना से विवाह करके, अभिलाषाओं के घनघोर थपेड़े खाकर पछताते हुए आत्म-विसर्जन करना और अपने पीछे बुढ़ापे के कलंक एक विधवा और दो निस्तेज, अपाहिज बालकों को छोड़ जाना समाज के प्रति अन्याय नहीं तो क्या है ?

विचित्र०—हो सकता है, किन्तु पिता की आज्ञा का पालन करना भी समाज की रक्षा का एक अङ्ग है । यदि भैया पिताजी की इच्छा पूर्ण न करके अपने अधिकार पर जोर देते तो क्या आने वाले युग के बालक दादा भीष्म का उदाहरण देकर बात-बात में पिता की आज्ञा का विरोध न करते ?

चित्रा०—यह केवल वाक्छल है। यदि ठीक इसी प्रकार की घटना भावी पीढ़ी के बालकों के सामने आती और वे उस अवस्था में अपने गुरुजनों का विरोध करते तो व्यक्तित्व की रक्षा के सामने समाज का ही अधिक कल्याण होता, विचित्र !

(सत्यवती का प्रवेश—दोनों उठकर खड़े हो जाते हैं ।)

चित्रा०—(उसी धुन में) आओ माता, हम लोग समाज के कलंक हैं, हम तीनों का एक होकर अमंगल की काली गुदड़ी में मुँह छिपा लेना समाज के कल्याण की एक महान् साधना होगी ।

सत्यवती—ठीक है। मैं सब सुन चुकी हूँ। चित्रांगद, तुझमें मेरे हृदय का विद्रोह झलकता है बेटा ! जिस दिन मैं तेरे पिता के सामने आई, देवव्रत के महान् किन्तु भीरु आत्म-त्याग के सामने सिर झुकाकर मेरे अज्ञानी माता-पिता ने मुझे महाराज की रानी बनने भेजा, उसी दिन मेरे हृदय में आत्म-गौरव पुकारकर रो उठा था। स्त्री जाति के प्रति अनन्त अपमान की भावना मेरे हृदय में जाग उठी थी।

परन्तु उस समय मैं राज-पद की भूखी थी, यौवन की न बुझने वाली प्यास ने मुझे बेचैन कर दिया था। कुछ ही दिनों बाद मेरे हृदय में उस अज्ञान के प्रति तिरस्कार की, उस मद के प्रति घृणा की, उस पतन के प्रति विषाद की भावनाएँ तीव्र-से-तीव्रतर होती गईं। पर नहीं, शास्त्र कहता है—“स्त्री को पति के प्रति कुछ कहने का अधिकार नहीं है।” मैं अब कुछ न

कहूंगी—केवल आत्म-ग्लानि, परिताप ही मेरे सहचर हैं। जबर-दस्ती मुझसे कराये गए पापों की अग्नि में धुआँ-ही-धुआँ है। उसी में धक्-धक् करके दम घुट रहा है। ओह, यदि कहीं.....

चित्रा०—माता, जिन जगमगाते भवनों को देखकर हमारी आँखें चौंधिया जाती है, उनकी दीवारों में मिट्टी की बनी हुई ईंटें हैं। मनुष्य के पैरों में चुभकर इधर-उधर ठोकर खाने वाले पत्थरों का चूना है। न्याय की कोठरियाँ विलास और स्वार्थ की स्यामग्री से भरी हुई हैं। जिसे मनुष्य राज-दण्ड कहकर पुकारता है उसमें भी मनुष्य के स्वार्थ की ही चमक है। मैं भैया का आदर करता हूँ।

सत्यवती—जो हो, मुझे अपने दुर्भाग्य की अमिट रेखा में चित्रकार भीष्म का ही हाथ दिखाई देता है। आँखों में जिस तरह तारे चमकते हैं ठीक उसी तरह मेरे दुःख में, मेरे परिताप में, भीष्म की यह कायरतापूर्ण..... । यह सब-कुछ मैंने आज उससे कह भी डाला है। बहुत दिन हृदय की उस आग को हृदय में दबाये रखा, पर सबेरे तो वह मुझे जैसे असह्य हो उठी। मैंने कह ही डाला सब-कुछ.....सब ही.....हा प्रतिशो..... ।

विचित्र०—मैं देखता हूँ तुम दोनों क्रान्ति और घृणा की काली भावनाओं में मनुष्यत्व को भूल बैठे हो। मैं अपने को सब प्रकार से हीन पाकर भी भाई के प्रति कोई अनुचित शब्द नहीं सुनना चाहता। (उठकर चलने लगता है।)

चित्रा०—विचित्रवीर्य, अकारण क्रोध न करो। मैं भी भैया

का उतना ही भक्त हूँ जितने तुम । भक्ति और श्रद्धा के आवरण में सत्य और यथार्थता की आग दबाई नहीं जा सकती । अपने निर्बल, क्षय, पीड़ित शरीर को देखकर मैं मानसिक उद्वेग को कैसे रोक सकता हूँ ! यह तो ऐतिहासिक अत्याचार है ? इसे कहना ही होगा । न कहने पर कण्ठावरोध द्वारा प्राण-घात जो होगा । मैं उनके त्याग का पुजारी हूँ, किन्तु....।

(नेपथ्य में कोलाहल की ध्वनि सुनाई देती है ।)

हैं, यह क्या ? यह कैसा कोलाहल है ?

(प्रतिहारी दौड़ता हुआ आता है ।)

प्रतिहारी—महाराज, रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए ।

चित्रा०—(एकदम खड़ा होकर) क्या हुआ ?

प्रतिहारी—महाराज, चित्रसेन नाम के गन्धर्व ने हस्तिनापुर पर चढ़ाई कर दी है, चारों तरफ से नगर घेर लिया है ।

विचित्र०—अब क्या होगा ? गन्धर्वों का सामना कौन करेगा ?

चित्रा०—चलो, मैं सेना लेकर गन्धर्वों से लड़ूँगा । माता, आज्ञा दो, यह पापी शरीर हस्तिनापुर की रक्षा में अपना कलंक धो सके । (एकदम चला जाता है ।)

〈 सत्यवती—चला गया, क्या अकेला ही ? जा....मेरे आत्म-सम्मान जा, हृदय की तीव्रता जा । किन्तु ठहरो, ठहरो, मैं भी चलती हूँ । मैं देवव्रत को सूचना देकर उसे युद्ध में भेज दूँगी । तुम न जाओ [निर्बल पुरुष वद-वृत्त को नहीं उखाड़ सकता] ठहरो ।

चित्रा०—(दूर से स्वर सुनाई देता है ।) नहीं, माँ, मुझे जाना ही होगा । मैं जाऊँगा, यही अवसर है देश के लिए प्राण-दान का, आत्म-प्रतिशोध का । (चला जाता है ।)

सत्यवती—चला गया मेरा आत्म-सम्मान । जाओ, जाओ बेटा, तुम ठीक कहते हो यही अवसर है । विचित्रवीर्य तुम ?

विचित्र०—क्या मैं ? मैं युद्ध नहीं कर सकता । मुझे मृत्यु से भय लगता है । मैं तो रोगी हूँ न ! जो धीरे-धीरे मृत्यु के मुख में जा रहा है । फिर भी मैं उससे डरता हूँ माँ !

सत्यवती—ठीक कहते हो बेटा ! मैं माँ हूँ, जिसकी आँखों में ममता के आँसू हैं और आँचल में दीर्घायुष्य का दूध, वाणी में मंगल-कामना । मैं जाती हूँ बेटा ! मैं युद्ध करूँगी ।

(जाती है । विचित्रवीर्य स्तब्ध बैठा रहता है ।)

(पट-परिवर्तन)

चौथा दृश्य

स्थान—राज-भवन का उद्यान

(अम्बिका और अम्बालिका बैठी बातें कर रही हैं ।)

अम्बिका—बहन कहती हैं कि मैं आकाश की तरह निर्मल हूँ और तू नदी के जल के समान स्वच्छ । पर बहन को हो क्या गया है ?

अम्बालिका—क्या हो गया है ?

अम्बिका—वह चुपचाप एकान्त में पड़ी गुनगुनाया करती हैं, नीले आसमान की ओर ताका करती हैं, कभी-कभी बड़ी उसाँसें लिया करती हैं ।

अम्बालिका—यह तो बड़ी बुरी खबर है ।

अम्बिका—क्यों, इसमें बुरी खबर क्या है ?

अम्बालिका—बड़ी बुरी बात है सचमुच !

अम्बिका—क्या ?

अम्बालिका—(बड़े ध्यान से) सुनती हूँ सन्निपात के ये ही लक्षण हैं ।

अम्बिका—सन्निपात क्या ?

अम्बालिका—सुना है ऐसा सभी को कभी-कभी हो जाया करता है ।

अम्बिका—उससे क्या होता है ?

अम्बालिका—आदमी सोते-सोते उठ बैठता है, आकाश की ओर ताकने लगता है, अपने-आप बोलने लगता है । सचमुच बड़ी बुरी खबर है ।

अम्बिका—फिर वही बात, उससे हानि क्या हुई ?

अम्बालिका—हानि तो बड़ी हुई ।

अम्बिका—क्या हानि हुई ?

अम्बालिका—यही कि वह सोते-सोते उठ बैठता है, आकाश की ओर ताकने लगता है और अपने-आप बोलने लगता है ।

अम्बिका—यह कोई बुरी बात है ?

अम्बालिका—और यह क्या कोई अच्छी बात है ?

अम्बिका—इसमें बुरी बात क्या हुई ?

अम्बालिका—इसमें अच्छी बात क्या हुई ?

अम्बिका—तू कैसी है ?

अम्बालिका—जैसी तू है ।

अम्बिका—मैं कैसी हूँ ?

अम्बालिका—जैसी मैं हूँ ।

अम्बिका—दुर पगली !

अम्बालिका—दुर पगली !

अम्बिका—मैं पगली क्यों ?

अम्बालिका—मैं ही पगली क्यों ? जा मैं तुझसे नहीं बोलती ।

(रुठ जाती है ।)

अम्बिका—ना बहन, रुठो मत । हम-तुम दोनों एक हैं ।

अम्बालिका—एक ।

अम्बिका—उस दिन गंगा-तट पर बैठे हुए एक तपस्वी को जब मैंने प्रणाम किया था तब उसने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा...

अम्बालिका—क्या ?

अम्बिका—काली रात थी, आकाश में बादल छा रहे थे ।

अम्बालिका—फिर ?

अम्बिका—‘टप-टप करके दो बूँदे गिरीं ।’

अम्बालिका—फिर ?

अम्बिका—‘पहले दोनों फूल पर गिरीं ।’

अम्बालिका—तब क्या हुआ ?

अम्बिका—‘दोनों फूल की वूँदों काँटे पर लुढ़क पड़ीं ।’

अम्बालिका—ऐसा !

अम्बिका—‘काँटा वूँदों के बोझ को न सभाल सका, वे दोनों मिलकर जमीन पर आ गिरीं । प्यासी पृथ्वी ने उन्हें पी लिया ।’

अम्बालिका—मैं तो कुछ भी नहीं समझी ।

अम्बिका—समझी तो मैं भी नहीं, पर एक डर बैठ गया मन में । तभी से सोचती हूँ, सोचती रहती हूँ ।

अम्बालिका—ये बे-सिर-पैर की बातें हैं । वह ऋषि अवश्य कोई पागल होगा ।

अम्बिका—देख, वहन अम्बा आ रही हैं ।

(अम्बा का प्रवेश)

अम्बा—ये छोकरियाँ कितनी प्रसन्न हैं, सौन्दर्य के आँगन में कल्लो की तरह ये भोलो, नीरस पवन के प्रकम्पन से अत-भिन्न । संसार हँसता है; पर इनकी हँसी में, मुस्कराहट में, विलास में अपनापन है, आत्मा की उज्ज्वल चमक है । एक मैं हूँ जो सूर्य की किरणों से अग्नि बने हुए आतिशी शीशे की तरह जल रही हूँ । मेरी स्वच्छता मेरी जलन का कारण है । अशान्ति की आग में, बेचैनी के उबलते जल-कुण्ड में मछली की तरह तड़प रही हूँ । मनुष्य उस उमड़े हुए मेघ के समान है जिसमें पानी और आग दोनों का वास है । प्यासी और मादक आँखों की कोर से उस नवयुग ने मेरे हृदय में बिजली सी लरजा दी

है । आह—कहीं मैं उन्हें.....।

अम्बिका —(ध्यान से देखकर) अरी, क्या यही सन्निपात है ?

अम्बालिका—ठीक यही ।

अम्बा—अरी अम्बिका-अम्बालिक, क्या कर रही हो ?

दोनों—कहानी कह रही हैं, कहानी ।

अम्बा—कैसी कहानी ?

दोनों—एक राजा की ।

अम्बा—क्या कहानी है, मैं भी तो सुनूँ ?

अम्बिका—मैं कह रही हूँ, वह राजा था । यह कह रही है, नहीं वह राजस था ।

अम्बा—क्यों री, वह कौन था ?

अम्बालिका—कोई भी हो, वह एक लड़की को उठाकर ले गया— तब तुम्हीं बताओ वहन, वह राजा था या राजस ?

अम्बा—दोनों हो सकते हैं ।

दोनों—कैसे, कैसे ?

अम्बा—यदि वह विधिपूर्वक ले गया तो वह राजा था और जबरदस्ती ले गया तो वह था राजस । शास्त्र में राजस-विवाह भी ऐसा ही बतलाया गया है । (हँसकर) किन्तु हम लोगों का तो स्वयंवर है न ?

अम्बालिका—स्वयंवर होगा । हम पुरुष का वरण करेंगी ।

अम्बिका—जिसको हम चाहेंगी । भला हम कैसे पुरुष को वरेंगी !

अम्बालिका—जो हमें अच्छा लगेगा, सुन्दर लगेगा, गोरा-गोरा ।

अम्बिका—दृष्ट-पुष्ट, बलवान, बड़ी-बड़ी आँखों वाला ।

अम्बालिका—धुत पगली, ऐसा नहीं कहते ।

अम्बा—(आकाश की ओर देखकर गुनगुनाने लगती है ।) आह ! ठीक है मनुष्य और स्त्री स्वर्ग के पुजारी हैं । अभिन्नता सृष्टि है और भेद विनाश का मरना है, जिसमें प्रलय का जल गिरकर सृष्टि को डुबा देता है । (अम्बिका के सिर पर प्यार का हाथ फेरती हुई इतने में दोनों को एक मनुष्य की छाया दिखाई देती है । अम्बिका-अम्बालिका दोनों हट जाती हैं । अम्बा उस ओर जाती है । पास जाकर शाल्व को पहचान लेती है) निठुर !

शाल्व—हृदयेश्वरी, चित्र-दर्शन से आज तक विक्षिप्त की तरह घूम रहा हूँ । नीले आकाश में, साँझ की लालिमा में, प्रातः-काल की उषा में, तुम्हारी ही मधुर मूर्ति...

अम्बा—तुम मेरे अन्तर में छाया की तरह घूमा करते हो । जितना मैं तुम्हें पकड़ने दौड़ती हूँ उतना ही तुम भागते हो निठुर ! तुमने क्या कर दिया ?

शाल्व—जब फूलों की हँसी कलियों की मुस्कराहट से उल-झती है, तब उस हँसी में, उस मुस्कराहट में तुम ही भाँक जाती हो । भौरा जब फूल पर मँडराकर गुनगुनाने लगता है तब मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वह तुम्हारा ही नाम लेकर कोई गीत गा रहा है । तुम मेरे हृदय की चमक हो और इन प्यासी आँखों

की तरस ।

अम्बा—शाल्वराज ! मनुष्य जाति बड़ी निठुर है, मेरी बहनें मनुष्य का नाम सुनकर डर जाती हैं ।

शाल्व—और तुम ?

अम्बा—(मुस्कराकर) मनुष्य स्वार्थ से प्रेम करता है, वासना की पूजा करता है, वह सदा से अपनी आँखों की जलन को दूसरे की आँखों के पानी से सींचता आया है ।

शाल्व—इस भूमण्डल में कोई भी शक्ति मुझे अपने अटल प्रण से नहीं हटा सकती । प्रिये, तुम्हारे लिए मैं संसार को लात मार सकता हूँ, [विषैले साँपों की दाढ़ों पर नाच सकता हूँ ।]

अम्बा—(आवेग में आकर) सचमुच ?

शाल्व—आत्म-विसर्जन कर सकता हूँ प्रिये ! (फिर आगे बढ़ता है ।)

अम्बा—न, न, अभी नहीं । पिताजी स्वयंवर का आयोजन करने वाले हैं न ?

(एक दासी दौड़ती हुई आती है ।)

दासी—कुमारी, कुमारी, कहाँ गई ? महारानी बुला रही हैं ।

अम्बा—क्या है री ?

दासी—महारानी बुला रही हैं, वे कहती हैं कुमारी को बुला ला ।

अम्बा—चल, आती हूँ ।

दासी—उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि साथ लेकर शीघ्र आ ।

(दोनों जाती हैं ।)

शाल्व—संसार में स्त्री भी एक विचित्र वस्तु है । इसकी आँख की दाईं ओर स्नेह की नदी बह रही है, दूसरी ओर, भय और तिरस्कार की तहें जमी हुई हैं । पुतली में आकर्षण और चितवन में वारुणी की उत्तेजना है । अवहेला इसकी पलकों पर झूलती है । वासना के अक्षय भण्डार को लज्जा की मञ्जूषा में छिपाने वाले रमणी-वर्ग ने मनुष्य को बौखला दिया है । मेघों में बिजली, समुद्र में बड़वा, पर्वतों में ज्वालामुखी, पवन में सिहरन और मादकता इसी के रूप हैं । इसकी भोली आँखों से विष के बुझे हुए बाण निकलते हैं, समय में बेचैनी झूलती है और हँसी में बेहोशी । यह बड़ी निठुर है और बड़ी प्रेममयी । अम्बा, मेरे जीवन की प्यास, हृदय की धड़कन !

(चले जाते हैं ।)

(पट-परिवर्तन)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—गंगा का तट

(उद्विग्न अवस्था में भीष्म टहल रहे हैं ।)

भीष्म—अहा, आज जाना कि मेरे कर्तव्य के पहियों में आत्माभिमान का कीचड़ लगा है । धर्म के अंगों में कर्तव्य सबसे

बड़ा है। पर आज कर्तव्य-पालन के पके हुए फलों में खटास क्यों है ? तब इससे ही क्या ! आज जो कुछ देखा, जो कुछ सुना वह क्या कभी सुना था ? फिर सुनूँ भी क्यों नहीं, मेरे कर्तव्य की आग में यदि कोई दूसरा जलने लगे तो सब सुनना ही होगा। जीवन के सुरक्षित फलों में उग्र दुर्गन्ध उठ रही है (कुछ सोचकर) इसमें मेरा क्या दोष..... (चुपचाप व्यास का प्रवेश)

अगर किसी यात्री के पैरों से चींटियाँ दबकर मर जायँ तब क्या वह चलना ही छोड़ देगा ?

व्यास—ऐसे समय उसके दो कर्तव्य हैं वत्स ! चींटी देखना और मार्ग तय करना।

भीष्म—(संप्रम से) आइये प्रभो ! जीवन के निकम्मे अंग के समान यह भीष्म आपको प्रणाम करता है। मैं कर्तव्य की आग में झुलस रहा हूँ। माता सत्यवती, दोनों भाई मेरे कारण दुःख भोग रहे हैं।

व्यास—सब जानता हूँ वत्स ! कर्तव्य का पालन करते जाओ, कल्याण होगा। कर्तव्य और आनन्द का एकरूप होना ही ब्रह्म को पाना है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक कर्तव्य में लगे रहो।

भीष्म—कर्तव्य, क्या अब भी वह कर्तव्य है जिसने मेरे मानस-विवेक में कुहेलिका भर दी है ? मैं जल रहा हूँ। क्या वह मेरा प्रसाद था ?

व्यास—होनहार की गाड़ी के दो पहिये हैं—साधन और

प्रेरणा] कर्तव्य मार्ग है, कहा जाने वाला विवेक उसका रथी है, ठीक मालूम होने वाला धर्म उसकी लगाम है। मनुष्य उसमें 'ननुनच' नहीं कर सकता। तुम भी उसी से बँधे हो। समस्त संसार भी उसी में भग्न है।

भीष्म—मैं नहीं समझा।

व्यास—समझोगे, समय आने पर समझोगे। जाओ, चित्रसेन नामक गन्धर्व ने हस्तिनापुर पर आक्रमण किया है उसकी रक्षा करो। (जाते हैं।)

भीष्म—(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा ! समय आने पर समझूँगा। जल तो अब रहा हूँ। यह तो आत्मा और परमात्मा में संघर्ष है। मेरे कार्य से सत्यवती का नाश हुआ, क्या इसका कारण मैं हूँ ? ओह, एक तरफ पितृ-सेवा, दूसरी तरफ प्रतिज्ञा और उसके फल-रूप तीन प्राणियों का असीम दुःख कुछ भी समझ में नहीं आता। किन्तु मुझे तो चित्रसेन गन्धर्व से युद्ध करना है न ? जाऊँ, देखूँ, वह क्या चाहता है। (जाते हैं)

(पट-परिवर्तन)

छठा दृश्य

स्थान—हस्तिनापुर का बाहरी भाग

(युद्ध का कोलाहल हो रहा है। चित्रांगद मूर्छित अवस्था में बड़बड़ा उठता है।)

चित्रा०—(बेहोशी में) मारो-मारो.....हस्तिना.....पुर पर शत्रु
 आक्रमण नहीं कर सकता । कर्तव्य.....घटना के मेघों से..... ।
 (कुछ संज्ञा प्राप्त करके) हाय, बड़ी पीड़ा है, आह ! अवसान.....
 जीवन का अवसान । माता, हा बड़ी पीड़ा है । हृदय की जलन
 और कर्तव्य की अग्नि में सब-कुछ स्वाहा.....स्वाहा हो गया ।
 जल, उफ जल की एक बूँद नहीं । पुरुष के स्तन के समान मैं निर-
 र्थक हूँ, दुर्गन्धि की तरह घृणित हूँ । मुझे जल कौन देगा ? मृत्यु,
 जीवन की संध्या । प्रातःकाल, कितना मनोहर प्रातःकाल.....उषा
 की सुनहरी माँगों में चन्द्रमा की तरह मैं मौत का.....शिकार बना
 हूँ । आ.....पीड़ा । (मर जाता है ।)

(भीष्म का प्रवेश)

भीष्म—हैं ! यह क्या ? (पास जाकर उसे टटोलते हैं ।) मर गया,
 युद्ध की काली महारात्रि में सो गया मेरा भाई ।

(उठाकर एक तरफ ले जाने लगते हैं, इसी बीच में चित्रसेन के कुछ
 योद्धा भीष्म पर झपटते हैं, भीष्म भाई को एक तरफ रखकर शत्रु से युद्ध
 करते हैं, इसी समय चित्रसेन आता है ।)

चित्रसेन—तू कौन है युवक !

भीष्म—देवव्रत !

चित्रसेन—अविनीत, गन्धर्वराज का नाम चुराने के कारण
 तुम्हारा भाई मारा गया ।

चित्रसेन का मन्त्री—गन्धर्वों का इतना अपमान कि मनुष्य
 उनकी समता करे ।

चित्रसेन का विदूषक—गन्धर्वों की स्त्रियों की माँग की तरह ऊँचे महाराज की इतनी अवज्ञा ? अहा, खुजलाने के सुख के समान मुझे इसकी मृत्यु पर हर्ष हो रहा है ! (देवव्रत से) मनुष्य, अधकचरी डेढ़ हड्डी का मनुष्य, महादेव गन्धर्व का सामना कैसे कर सकता है ! सिर पर टाँगें उठाकर भागो नहीं तो गोरे युवक, तुम माता के आँसुओं की भाँति भूमि पर पड़े दिखाई दोगे । क्या तुम्हें नहीं मालूम कि हमारे महाराज की बुद्धि युद्ध के मैदान में जल में तेल की बूँद की तरह फैल जाती है और जल में गाढ़े घी की तरह उनका बाण हृदय में पैठ जाता है ।

देवव्रत—अधम गन्धर्वों, मैं बहुत बातें नहीं बनाता, आओ, मुझसे युद्ध करो । (युद्ध होने लगता है, थोड़ी देर में सब गन्धर्व भाग जाते हैं, भीष्म भाई को लेकर नगर की ओर जाते हैं ।)

(कुछ बचे हुए गन्धर्व लोग)

पहला—गया ? बुरे हारे ।

दूसरा—बहुत बुरी तरह ।

तीसरा—वह तो यह कहो कि मैं पीछे हट गया नहीं तो.....

चौथा—नहीं तो क्या ?

तीसरा—अजी यह भी कोई लड़ाई थी ! उसके तीर तो पेट में भूख की तरह चुभते थे, आँखों में कंकड़ की तरह कसकते थे ।

दूसरा—मैंने देखा कि मेरे एक मित्र के प्राण तीर लगते ही गरम तवे पर पानी की तरह छनछनाकर ठण्डे हो गए ।

पहला—हमारे महाराज का चेहरा उस समय देखने योग्य था ।

दूसरा—कैसा था ?

तीसरा—वासे नौबू की तरह कान्तिहीन ।

पहला—उस युवक के बाणों की मार से हमारे महाराज का चेहरा बकरी के गले में थन की तरह थलथलाने लगा । मानो आँखें कपाल फोड़कर ब्रह्मरन्ध्र से मिलने चल दीं और रंग सूरजमुखी की तरह पीला हो गया था ।

दूसरा—और तुमने महाराज के विदूषक को भी देखा, वह तो बड़ा मजेदार मालूम होता था । उसकी सूरत देखकर हँसी के मारे मेरे पेट में तो बल पड़ गए । हा हा हा.....हा.....आह, उफ ! (याद करके) अब भी हँसी के मारे पेट फूला जाता है ।

सब—(उत्सुकता से) भला, वह कैसा मालूम होता था ?

दूसरा—अजी कुछ न पूछो, देवव्रत के बाणों की बौछार देखकर तेज हवा में पत्तों की तरह उसकी पिंडलियाँ काँप रही थीं । दोनों हाथ आगे करके वह पीछे की ओर भाग रहा था । एक हाथ में बिना डोरी की कमान तूफान में आई नाव की तरह झोंके खा रही थी । मुँह पिचक गया था, दाँत चिपक गए थे । घिग्घी बँध गई थी । अन्त में 'हाय री अम्मा' कहकर वह गिर पड़ा ।

सब—(हँसते हैं ।) वह बेचारा लड़ना क्या जाने !

चौथा—किन्तु मैंने जो तीर छोड़ा था यदि वह देवव्रत को लग

जाता तो ब्रह्मा हाथ-पैर पीटकर भी उसे नहीं बचा सकता था ।

तीसरा—अफसोस, मेरे पाश को उसने वैसे ही काट दिया, नहीं तो वहीं फँस चले थे ।

दूसरा—न मालूम मेरी तलवार में उस समय कुछ मोथरा-पन आ गया था या क्या, नहीं तो उसकी मार के सामने उसकी तो शक्ति ही क्या स्वयं इन्द्र भी नहीं ठहर सकते थे ।

पहला—महाराज वैसे ही हार गए, अन्यथा हम लोगों की बहादुरी में तो कोई कसर थी नहीं ।

दूसरा—गन्धर्वराज का भाग्य ही ऐसा था, अन्यथा हम लोग तो...कहते क्यों नहीं ?

सब—(एक स्वर से) इसमें क्या सन्देह है ?

(सब एक ओर को चले जाते हैं ।)

(पट-परिवर्तन)

दूसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—काशिराज का प्रमोद उद्यान

(अम्बा पत्थर के बने सिंहासन पर चिन्तामग्न बैठी है ।)

अम्बा—(बीच-बीच में उसीसे लेकर) उफ़, बेचैनी हृदय से फूटी पड़ती है । पलकें जागरण की सखी बन गई हैं । आँखें तो मानो आकाश की आग खाकर उबल-सी उठी हैं । हृदय स्मृति से विभोर होकर आँखों में अटक रहा है । नीरव निशीथ में नीहारिका के उजले कणों से मेरे आँसू स्पर्द्धा कर रहे हैं । पिता स्वयंवर की तैयारी कर रहे हैं । यदि वे न आये, न आ सके; ओह ध्यान आते ही हृदय चूर-चूर हो जाता है । नहीं, वे जरूर आयेंगे । क्यों न आयेंगे ? उनके हृदय में भी तो वैसी ही उथल-पुथल है । शाल्वराज, (आकाश की ओर ताककर) आओ, यह हृदय तुम्हारे ही स्मृति-कणों से बना है; तुम्हारी आकांक्षाओं की धड़कन से ही गतिमान है प्रिय ! एक बार फिर...

(विदूषक के साथ काशिराज का प्रवेश)

विदूषक—देखिए, देखिए महाराज, वह है कुमारी अम्बा ! ठीक है, किसी पके हुए फल के गिरने की ताक में बैठी होगी । हो

सकता है कि किसी वृत्त के पत्ते गिन रही हो। हैं, यह क्या ! अधिक लड्डू खाकर उफने हुए पेट वाले ब्राह्मण के समान यह ऊपर की ओर उसाँसें क्यों ले रही है !

काशिराज—अम्बा बड़ी गम्भीर और समझदार कन्या है ब्राह्मण !

विदूषक—अम्बा और अम्बा की.....। उसके पिता भी तो महाराज ? अम्बा को देखकर ऐसा मालूम होता है मानो हवा पर झूलते हुए बादलों की तरह मुँह लटकाए अशोक-वाटिका में सीता बैठी हो।

(पिता का आगमन जानकर अम्बा खड़ी हो जाती है। काशिराज पास जाकर सिर पर प्यार से हाथ फेरते हैं।)

काशिराज—बेटी, यहाँ एकान्त में बैठी क्या सोच रही हो ? ब्राह्मण, मेरी यह कन्या ज्ञान के समान निष्पाप है।

विदूषक—और चतुर भी।

काशिराज—बेटी, तुम्हें मालूम हो गया होगा कि आज तुम्हारा स्वयंवर होने वाला है, दूर-दूर से राजकुमार आये हैं। तुमने देखा विरूपान्न, इस स्वयंवर में भाग लेने के लिए युवराज ही नहीं प्रौढ़ और बूढ़े राजा भी आये हैं। क्या उन्हें अब भी विवाह की आवश्यकता है ? यह तो बहुत अनुचित, है न ?

विदूषक—महाराज, जिनकी नैमित्तिक आवश्यकताएँ नित्य की आवश्यकता बन जाती हैं, वे व्यक्ति कर्तव्यहीन हो जाते हैं।

काशिराज—सुभे तो उन बूढ़े खुसट लोगों को देखकर आश्चर्य ही नहीं अत्यन्त दुःख भी हुआ । किस साहस से ये लोग स्वयंवर में आये हैं !

विदूषक—क्यों न हम स्वयंवर-भूमि के बाहर एक यह सूचना लगा दें कि 'स्वयंवर की भूमि में केवल नवयुवक अविवाहित राजकुमार ही प्रवेश पा सकेंगे ?'

काशिराज—(सोचते हुए) ऐसा नहीं हो सकता । हमारे समाज में बूढ़ों के विवाह करने की प्रथा बन्द नहीं है ।

अम्बा—किन्तु यह तो अन्याय है पिताजी !

काशिराज—(चौंकर) अभी तक तुम यहीं हो बेटी !

अम्बा—हाँ, मैं सब सुन रही थी । बुराई को सदा दूर करते रहना चाहिए । इन बूढ़ों को कुमारियों से विवाह करने का कोई अधिकार नहीं है ।

काशिराज—स्वयंवर में तो कन्या को ही वर चुनने का अधिकार है, निपिद्ध व्यक्ति अपने-आप ही मार्ग से हट जायेंगे । हम क्यों व्यर्थ में भ्रम खड़ा करें ?

अम्बा—यदि कोई कन्या किसी को भी वरण न करे ?

विदूषक—तो दूसरी बार नये वरों को आमन्त्रित करना होगा । तीसरी बार, चौथी बार ।

(व्यक्ति का प्रवेश)

व्यक्ति—स्वयंवर की रंगभूमि तैयार है, महाराज पधारें ।

काशिराज—चलो । (जाते हैं ।)

अम्बा—रूढ़ियों को तोड़ना होगा । क्या तुम न आओगे मेरे प्रिय ? (एक ओर को चली जाती है ।)

(दोनो जाते हैं ।)

(दूसरी ओर से अम्बिका और अम्बालिका का प्रवेश)

अम्बिका—मैं कहती थी न, इन दिनों बहन धूप में मुरमाई हुई कली के समान कुम्हला रही हैं । भला इन्हें क्या चिन्ता है ! हमें तो देखो कैसे आनन्द में बिचरती हैं !

अम्बालिका—आनन्द से खाती-पीती हैं ।

अम्बा—मौज में रहती हैं ।

अम्बालिका—अपनी नींद सोती हैं ।

अम्बिका—अपनी नींद उठती हैं ।

अम्बालिका—चारों तरफ आनन्द है ।

अम्बिका—चारों तरफ बहार है ।

अम्बालिका—भला तुम्हें कैसा लगता है ?

अम्बिका—क्या ?

अम्बालिका—हृदय ।

अम्बिका—मेरे हृदय में गुदगुदी उठ रही है । ऐसा लगता है इन फूलों की सुगन्धि से मदमाते पवन से चिपटकर आकाश में उड़ जाऊँ और टिमटिमाते तारों का मुँह चूम लूँ, चन्द्रमा को छाती से चिपका लूँ । भला तुम्हें कैसा लगता है ?

अम्बालिका—मुझे ऐसा लगता है कि कली बनकर हवा पर थिरकूँ, फूल बनकर भूमूँ, भौरा बनकर मँडराऊँ, कोयल बनकर

अम्बा—तेरा स्वयंवर जो हुआ ।

अम्बालिका—तुम्हारा भी तो...

अम्बा—(अम्बालिका के गाल पर एक हल्की-सी चपत लगाकर)
हाँ मेरा भी । (कुछ सोचती हुई एक ओर को चल देती है । दोनों बहनें
वहीं रह जाती हैं ।)

अम्बालिका—भला बहन, क्या हम ऐसे ही नहीं रह
सकतीं ? प्रकृति की प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है । अहा ! स्वतन्त्रता
कितनी अच्छी चीज़ है ! पानी के मोतियों की माला पहने हुए
बादल अपनी मौज में घूमते हैं; बिजली बादलों के फोए-से
दिल में उल्लास भरकर कड़कती है; चुलबुलाती हवा अपनी
मस्ती में भूमती है; अबोध बच्चे की तरह खिलखिलाकर हँसते
हुए ये फूल अपने आनन्द में कैसे नाचते हैं; फिर हम क्यों
नहीं स्वतन्त्र रह सकती बहन ?

अम्बिका—रह सकती हैं ।

अम्बालिका—फिर पिताजी न जाने क्यों हमारे गले में
व्याह की जंजीर डाल रहे हैं ?

अम्बिका—(गम्भीर बनकर) हाँ, डाल तो रहे हैं ।

अम्बालिका—क्यों डाल रहे हैं ?

अम्बिका—मैं क्या जानूँ क्यों डाल रहे हैं ? व्याह कोई

अच्छी ही चीज़ होगी ।

अम्बालिका—इसमें अच्छाई क्या है ? मनुष्य ने पराक्रम
के मैदान में आज्ञा का जाल बिछा रखा है । स्त्रियाँ एक अचिन्त्य
काल से उसी जाल में फँस रही हैं, इसलिए हम भी फँसेंगी ।

एक ऐसी तान छेड़ूँ कि संसार सिहर उठे। नदी के जल-कण लेकर दरबार में बैठे विदूषक को भिगो दूँ और डण्डा बनकर जोर से तेरे सिर पर आ गिरूँ। (हँसकर) कैसी कही ?

अम्बिका—(खीझकर) और मैं न पत्थर बनकर तेरे सिर का कचूमर निकाल दूँ।

(अम्बा उसी ओर जाती है।)

अम्बा—अरी क्या कर रही हो ?

अम्बिका—कुछ भी तो नहीं बहन !

अम्बा—(प्यार से दोनों के सिर पर हाथ फेरती हुई) अब तुम्हारा स्वयंवर होने वाला है, जानती हो ?

दोनों—जानती हैं।

अम्बा—अब तो डर नहीं लगता ?

दोनों—नहीं, पुरुष और स्त्री तो संसार की गाड़ी के दो पहिये हैं।

अम्बा—भला अम्बिका, तू कैसा पति चाहती है ?

अम्बिका—(हँसकर) अम्बालिका जैसा।

अम्बा—और अम्बालिका तू ?

अम्बालिका—तेरे जैसा।

अम्बा—(हँसकर) दुर पगली ! अभी तुम निरी लड़कियाँ ही हो।

अम्बालिका—बहन, आजकल हमारे नगर में बड़ी सजावट हो रही है।

दूसरा दृश्य

स्थान—काशी का राजपथ

(कुछ नवयुवको तथा वृद्ध राजाओं का प्रवेश)

एक नव०—(दूसरे से) मनुष्य ने स्त्रियों पर सदा से अपना अधिकार जमाया है। परन्तु स्वयंवर ही एक ऐसा अवसर है जहाँ पुरुष को स्त्रियों की दृष्टि में कृपा-पात्र बनना पड़ता है और वह भी हम जैसे वीर पुरुषों को। धिक्कार है इस प्रथा को क्या इस अधिकार द्वारा क्षत्रियों ने अपने हाथ-पैर नहीं कटवा डाले ?

दूसरा—सचमुच बड़ी निकम्मी प्रथा है, पर एक बात है।

पहला—क्या ?

दूसरा—मनुष्य ने स्त्री जाति के गौरव की रक्षा की है।

वृद्धश्रवा—क्या कहा, मनुष्य ने गौरव की रक्षा की है ? भला इनका गौरव ही क्या ?

दूसरा—क्यों, क्या स्त्रियों को आत्म-गौरव की आवश्यकता नहीं है ?

वृद्ध०—अजी जाने भी दो। स्त्रियों के गौरव की रक्षा करते ही वे सिर पर चढ़ जाती हैं। जब मैं अपनी राजधानी से चला तो मेरी प्रजा के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति ने पूछा—‘महाराज वृद्ध-श्रवा, आप स्वयंवर में क्यों जा रहे हैं ?’ मैंने उस समय उत्तर देना उचित न समझा। परन्तु यहाँ आपसे कहता हूँ कि मुझे अपनी रानी से बहुत डर लगता है।

शिकारी हमेशा से शिकार खेलता आ रहा है, चिड़ियाँ सदा से उसमें फँसती आ रही हैं। एक बार स्त्री को पुरुष के अधीन हो जाने पर अपने-आपको भूल जाना होता है। उसकी आँखों के इशारों पर स्त्री को नाचना पड़ता है; उसकी रूखी हँसी में खिलखिलाकर हँसना पड़ता है।

अम्बालिका—उसके कराहने पर चीख मारकर रोना भी होता है।

अम्बिका—यह भी कोई जीवन है !

अम्बालिका—जाने क्या है, परन्तु एक बात है ?

अम्बिका—क्या ?

अम्बालिका—लोगों से सुना है कि यह अनादि धर्म है।

अम्बिका—इसका क्या अर्थ है ?

अम्बालिका—अनादि का अर्थ है जिसका आदि न हो।

(अम्बिका—तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्त्रियाँ अनादि काल से पुरुषों की इच्छा और अत्याचारों का शिकार बनती आ रही हैं।)

अम्बालिका—अनादि काल से पुरुष का पौरुष स्त्रियों को अबला बनाने में सफल रहा है।

अम्बिका—होगा, हमें इससे क्या, जीवन की गहराई की थाह ढूँढ़ने का नाम चिन्ता है, भ्रंश है। आओ खेलें।

अम्बालिका—हाँ, यह तो है ही। चलो खेलें।

(दोनों एक ओर को चली जाती हैं ।)

(पट-परिवर्तन)

ऐसा कोई उपाय नहीं कर सकते कि जिससे अम्बालिका मेरे गले में माला डाले ?

(शाल्व का प्रवेश)

शाल्व गाता हुआ—

विष के प्याले में जीवन हाँ जीवन सुधा भरी है ।
 इस अग्नि-कुण्ड में जलती फूली सुखलता हरी है ॥
 वसुधा की सब बेचैनी वसुधा का सुख है इसमें ।
 अमृत है और हलाहल जीना मरना है जिसमें ॥
 स्मृति के पंखों पर सारा यह झूल रहा है जीवन ।
 स्मृति-विस्मृति की आँखों में मेरा नन्हा सूनापन ॥
 उस पार चित्तिज से धुँधला ही धुँधला देव चमकता ।
 इस पार मृत्यु की सरगम पर जीवन राग धिरकता ॥
 आँखों की एक कहानी इन आँखों में लिख डाली ।
 अब भरे हुए आँसू हैं सब लगता खाली खाली ॥

वृद्ध०—यह तो एक नये प्रेमी आ धमके । आह कौन हैं श्रीमान् ?

शाल्व—वह, जिसके ज्वार को आप खोल रहे हैं ।

वृद्ध०—विशुद्ध लक्षणा है । जीते रहो । तो क्या आप भी वहीं जा रहे हैं ?

शाल्व—काशिराज की लड़कियों के स्वयंवर में । और आप ?

वृद्ध०—मैं भी । क्या मैं स्वयंवर में नहीं जा सकता ? अभी

पहला—(उत्सुकता से) डर लगता है ?

तीसरा—हाँ भाई, उसके सामने आते ही जैसे मैं सब-कुछ भूल जाता हूँ। पूरी बाध है।

दूसरा—ऐसा क्यों ? क्या वह तुमसे प्रबल है ?

तीसरा—अजी प्रबल, वह तो आँधी से भी प्रबल है। याद आते ही कलेजा मुँह को आने लगता है। भगवान् ने न जाने कहाँ से साथ बाँध दी।

पहला—क्या तुम्हारा स्वयंवर नहीं हुआ था ?

तीसरा—बात यह है कि मैं तो उस स्वयंवर में तमाशा देखने गया था। तुम्हें मालूम ही है कि हमारा वंश बड़ा बली है। मेरी वीरता भी तुम जानते हो कुछ कम नहीं। आँख, कान, नाक से भी दुरुस्त हूँ ही। बस उसने ये सब बातें सुन-सुनाकर मेरे गले में माला डाल ही तो दी। परन्तु वह तो डर की तरह भयावनी, दुःख की तरह बे-दर्द और प्रतिज्ञा की तरह कठोर निकली। उसने सचाई की तरह स्पष्ट होकर मेरे हृदय को भरम कर डाला।

पहला—(हँसकर) आपने तो उपमाओं की झड़ी लगा दी, पर अब भी तो स्वयंवर है ?

तीसरा—हाँ, (सोचकर) हाँ, स्वयंवर तो है। पर अम्बालिका छोटी जो है।

दूसरा—और अगर अम्बा ने वरा तो ?

तीसरा—अम्बा, बस यही तो बड़ी बुरी बात है। क्या तुम

भीष्म—देखा जायगा ।

वृद्ध०—ये लोग मुझे वृद्धा समझ रहे हैं । मैं कहता हूँ मैं युवा हूँ । आप कहेंगे कैसे ? मैं कहता हूँ मेरा मन अभी जवान है । (अकड़कर) ढील-ढील सब दुरुस्त । केवल बालों की सफेदी से क्या होता है ? बाल तो नज़ले से भी सफेद हो जाते हैं । आपके भी तो बाल सफेद हैं, पर इससे क्या ? स्वयंवर में बाल देखता कौन है ! और उस समय तो मेरे सिर पर मुकुट होगा । किन्तु अब हमें जल्दी चलना चाहिए, ऐसा न हो कि हम समय पर न पहुँच सकें ।

सब—हाँ ठीक है, यदि आप स्वयंवर में ठीक समय पर न पहुँच सके तो काशिराज उलाहना देंगे ।

वृद्ध०—उलाहना, उलाहना देंगे तो ले लूँगा, पर समय पर तो पहुँचना चाहिए ही ।

(सब चले जाते हैं ।)

(पट-परिवर्तन)

तीसरा दृश्य

(सत्यवती उद्विग्न अवस्था में)

सत्यवती—मुनिवर पराशर के वरदान से तो मृत्यु अच्छी थी । अनन्त यौवन की अपेक्षा बुढ़ापा अच्छा था । इसमें अभिलाषा के स्थान पर होती है असमर्थता । अत्यन्त मदनोन्मत्त तो

मेरी उमर ही क्या है ? बाल कुछ सफेद हैं, तो इससे क्या ? नज़रों से ऐसा हो ही जाता है । तुम केवल भुर्रियों का चिक्र कर सकते हो; सो वे तो बीमारी से भी हो जाती हैं । अरे भाई मन जवान चाहिए ।

पहला नव०—आपकी अवस्था क्या होगी ?

वृद्ध०—अवस्था बहुत थोड़ी, और बहुत हो तो भी क्या शरीर में बल होना चाहिए ।

शाल्व—(हँसकर) हाँ, ठीक है, आप तो भीष्म हैं ।

वृद्ध०—तुम हँसते हो !

शाल्व—हाँ, आपकी वीरता की कहानी सुनकर हँसी आ गई ।

पहला—परन्तु इसमें क्या प्रमाण है कि इस स्वयंवर में आपको मनचाही कन्या ही मिलेगी ?

वृद्ध०—न हो, एक नहीं तो दूसरी, दूसरी नहीं तो तीसरी । स्त्रियाँ आखिर हैं किस लिए ? फूल की सुगन्धि भौंरे के लिए और वषा की बूँद पृथ्वी के लिए हैं । इनका अपनापन तो कुछ है ही नहीं । 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' क्या तुमने शास्त्र नहीं पढ़ा ?

(भीष्म का प्रवेश)

वृद्ध०—(भीष्म को देखकर) क्या आप भी स्वयंवर में जा रहे हैं ?

भीष्म—जा तो रहा हूँ ।

वृद्ध०—कन्या-वरण के लिए ?

दो पुत्रों के रूप में देखा था !

विचित्र०—पर अब मुझे जीवन में कोई साध नहीं, कोई इच्छा नहीं। कभी कोई इच्छा थो भी नहीं। मुझे उजला संसार नहीं चाहिए माँ !

सत्यवती—नहीं विचित्र, इतने बेचैन मत हो। आशा और निराशा के संघर्ष से उत्पन्न होने वाली अग्नि से संसार गतिमान है। पुत्र, भीष्म को मैंने तुम्हारे विवाह के लिए भेजा है।

विचित्र०—मुझे विवाह की कोई इच्छा नहीं। नहीं माँ, मेरे विवाह की आवश्यकता भी नहीं। मैं विवाह न करूँगा। मेरा विवाह तो रोगों से पहले ही हो चुका है, निराशा, उदासीनता, कायरता मेरी सहचरियाँ हैं। मैं विवाह न करूँगा।

सत्यवती—पुत्र, यह संसार भविष्य के अज्ञात अंधेरे की ओर दौड़ रहा है। सब आगे को देखने की चिन्ता करते दौड़े जा रहे हैं। रोगी भविष्य में नीरोग बनने का स्वप्न देखता हुआ जी रहा है, निर्धन धन की, दुखी सुख की, ज्ञानी बृहद् ज्ञान की और वृद्ध मोक्ष की, वस यही हाल है इस संसार का। मैं और तू भी उसी प्रवाह में बहे जा रहे हैं, फिर आगे आने वाले सुख या दुःख के प्रति वैराग्य संसारी को शोभा नहीं देता। अब तेरा विवाह होगा। फिर देखना तेरा छोटा-सा संसार किस प्रकार एक बार फिर चमक उठेगा पुत्र !

विचित्र०—ठीक, तुम ठीक कहती हो।...इन बातों को सुन-

हाथी भी पागल हो जाता है। न जाने मैंने किस अशुभ घड़ी में मुनि से यह वरदान माँगा था ! पर अब क्या हो सकता है, तीर छूट गया। मुझे जीवन में केवल एक सहारा मिला और वह भी टूटा हुआ; एक हृदय मिला, वह भी लुब्ध और व्यग्र। नहीं, कहीं भी कुछ नहीं है। सब ओर अँधेरा है। चित्रांगद गन्धर्वों के हाथों मारा गया। वह वीर था और थी मेरे हृदय की शुद्ध छाया; मेरी आत्मा की व्यक्त प्रेरणा। दूसरा पत्र दीन, हीन और रोगी.....

(विचित्रवीर्य का प्रवेश)

विचित्र०—हाँ, यह ठीक है। यही कहना उपयुक्त है—दीन, हीन और रोगी। जीवन में मुझे यही प्रसाद मिला है।

सत्यवती—नहीं बेटा, मैंने ये सब बातें तुम्हारे लिए नहीं कहीं। मैं ही अभागी हूँ, दोष किसे दूँ। (रोने लगती है।)

विचित्र०—माता, यह क्या, तुम रोती हो ? नहीं, रोओ मत। अभी इस जीवन में रोने के बहुत दिन हैं। रोना ही तो है। मैंने समाज के शरीर में फोड़े के समान जन्म लिया है, उसके समाप्त हो जाने पर ही दुःख दूर होगा। तुम रोती क्यों हो ?

सत्यवती—मेरे लाल, ऐसा न कहो। विधाता ने संसार का सुख देखने को मुझे दो आँखें दी थीं, एक आँख फोड़ दी। किन्तु क्या पलाश को अपने निर्गन्ध पुष्प पर गर्व नहीं होता ? आह, वह कैसा शुभ दिन था, जब मैंने अपनी कुसुमित आशाओं को

सत्यवती—इसका आशय यही है कि तू मुझ मल्लाह की लड़की से उत्पन्न हुआ है, ऐसा लोग मानते हैं और काशिराज कदाचित् अपनी कन्या तुझे देना पसन्द न करें इसलिए बलपूर्वक हर लाने के लिए ही मैंने भीष्म को स्वयंवर में भेजा है।

विचित्र०—बलपूर्वक ! बलपूर्वक कन्या-हरण ! तुमने बहुत बुरा किया। मैं ब्याह न करूँगा माँ !

सत्यवती—हाँ पुत्र, क्षत्रियों में बलपूर्वक कन्या-हरण भी न्याय है।

विचित्र०—क्या कहा, बलपूर्वक कन्या-हरण न्याय है न्याय, फिर अन्याय क्या है ? ओह, तुम जाओ माँ, मुझे एकान्त में न्याय-अन्याय पर विचार करने दो। मैं समाज के अनुचित बोझ से दबा जा रहा हूँ। जाओ माँ, जाओ। इस प्रकार कन्या-हरण न्याय नहीं है। भैया बहुत अनुचित कार्य करने जा रहे हैं, जैसे कन्या निर्जीव खिलौना हो। (सोचकर) किन्तु मैं मल्लाह की लड़की का पुत्र हूँ। (सत्यवती जाती है।) इतनी गद्दा, मल्लाह की लड़की होने से क्या मैं इतना पतित हो गया ? समाज की जिन कड़ियों ने पिता शान्तनु को मल्लाह की कन्या से विवाह करने का आदेश दिया, क्या वही मुझे जाति-च्युत कर रही है ? ओह, यह कैसा विधान है ! परन्तु मैं तो रोगी हूँ। मुझे विवाह का अधिकार ही कहाँ है ! फिर भी मेरा विवाह होगा। राजकुमार हूँ न राजकुमार। (हँसता है, खूब हँसता है।) मैं भी देखूँगा मेघ को देखकर मोर क्यों नाचने लगते हैं,

कर मुझे इच्छा होती है...इच्छा। उसी दौड़ में एक बार बे-तहाशा दौड़ूँ, एक बार फिर बादलों की दुनिया में रिमझिम नाच देखूँ। भला मेरा...विवाह कहाँ...कब...क्या मैं सुखी हो सकूँगा...माँ ?

सत्यवती—काशिराज की कन्याओं का स्वयंवर है, उन्हीं में से एक को लाने के लिए मैंने भीष्म को भेजा है। तुम सुखी होगे बेटा ! तुम्हारा सुख ही तो मेरी आँखों की ज्योति है। पुत्र को क्या मालूम कि माँ की कितनी ममता होती है। एक बार, यदि एक बार...

विचित्र०—स्वयंवर, पर मेरे वहाँ न रहते हुए...स्वयंवर... आश्चर्य है।

सत्यवती—तेरे वहाँ न रहने पर भी कन्या लाने का मैंने प्रबन्ध कर दिया है।

विचित्र०—पर यह बात तो मेरी समझ में बिलकुल नहीं आती।

सत्यवती—(ऊँची श्वास लेकर) समझ में न आना ही अच्छा है, समझने की आवश्यकता भी नहीं है मेरे पुत्र !

विचित्र०—क्यों माँ ?

सत्यवती—पुत्र, न समझना अच्छा है। समझकर क्या करोगे बेटा ? निर्णय करते समय पापों की डखाड़-पछाड़ से तो चुपचाप भविष्य को प्रकाशमय करने का उद्योग ही अच्छा है।

विचित्र०—(तेजी से) इसका क्या मतलब ?

भी सहायक नहीं होता। इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि इस प्रथा को तोड़ दिया जाय।

दूसरा—अर्थात् बल-प्रदर्शन होना चाहिए यही तुम कहते हो। तो (मूँछों पर हाथ फेरते हुए) यहाँ इसके लिए भी तैयार हैं।

तीसरा—‘सुरत न शकल भाङ्ग में से निकल’ जब इतना ही अविश्वास था तो घर में बैठते। आये ही क्यों ?

चौथा—स्वयंवर में कन्या वर के सौन्दर्य, शक्ति, विद्या और बुद्धि की परीक्षा लेती है। यही अवसर है जब पुरुष के पौरुष रूप का दर्शन होता है। स्वयंवर मनुष्य के यौवन की सफलता का पौरुषमय चित्र है, इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि हमको चुप होकर महाराज काशिराज की कन्याओं के निर्वाचन को देखना चाहिए।

सब—ठीक है, ठीक है। (एक व्यक्ति खड़ा होकर)

पहला—महाराज वृद्धश्रवा भी स्वयंवर भूमि में आये हैं।

दूसरा—वृद्धश्रवा हो या चतुश्रवा, यह तो पौरुष, सौन्दर्य-परीक्षा का स्थल है। यदि उन्हें सन्देह है तो भलाई इसमें है कि अभी लौट जायँ।

तीसरा—चुप रहिये। कार्यवाही होने दीजिये।

पहला व्यक्ति—क्या सफेद दाढ़ी हिलाते हुए आप भी अपने को वरणीय मानते हैं ? ज़रा मुकुट तो ठीक कीजिये, उल्टा लगा है। और तिलक भाल की अपेक्षा भौंहों में लगा है।

तीसरा—इस अपमान का तुमको दण्ड भोगना होगा। उठो, युद्ध करो।

पपीहा स्वाति-वृद्ध से इतना प्रेम क्यों करता है। मेरा भी विवाह होगा, विवाह, हा हा हा हा ।

(हँसता है, हँसता ही रहता है, फिर टकटकी लगाकर एक ओर देखता रह जाता है ।)

(पट-परिवर्तन)

चौथा दृश्य

स्थान—स्वयंवर का मण्डप

(सब आये हुए राजा अपने स्थानों पर बैठे हैं । तोनो राजकुमारियों स्वयंवर-मण्डप में वरमाला लिये प्रवेश करती हैं ।)

सखियाँ—गाती हुई—

विजयिनी वैजयन्ति जयमाल

हृदय-सी स्वच्छ सुनिर्मल माल

पुष्प-पल्लव कोमल जिसमें

गन्ध विभ्राजित आशा-जाल

विजयिनी वैजयन्ति जयमाल

मन्त्री—राजाओं तथा राजकुमार वर्ग, क्षत्रियों के विवाह की प्रथा के अनुसार आज हमारे महाराज काशिराज की तीनों कन्याओं का स्वयंवर है। इसीलिए आपको कष्ट दिया गया है। (स्वयंवर-भूमि से एक आगन्तुक उठकर) इस स्वयंवर यज्ञ में पुरुष इतना पराधीन है कि उसके पूर्वार्जित पुण्य के सिवा और कोई

विजय हुई ।

एक राजकुमार—आजन्म ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा करने वाले देव-
व्रत इतने उतावले...?

दूसरा—अरे भाई, 'भोग्यं किं रमणीं विना' तुम क्या जानो,
हाथी के दाँत दिखाने के और, और खाने के और होते हैं ।

तीसरा—नहीं, इसमें कुछ रहस्य ही होगा, देवव्रत तो कभी
प्रतिज्ञा से हट नहीं सकते !

(भीष्म उस समय तक खड़े ही रहते हैं ।)

काशिराज—मैं धन्य हुआ । वीर देवव्रत ! आप मेरे अतिथि
हैं, स्वयंवर की प्रथा का पालन कीजिए ।

भीष्म—काशिराज ! अब स्पष्ट ही कहना होगा ।

विदूषक—हाँ, हाँ, स्थान और प्रयत्न का ठीक-ठीक प्रयोग
करके अभिधा में बातचीत करने ही से वाक्य स्पष्ट होता है ।
वैसा ही करके आप हमारे सन्देह को दूर कीजिए कुमार !

भीष्म—तो सुनो, मैं स्वयं विवाह करने के लिए इन कन्याओं
को हरने नहीं आया । मेरा भाई विचित्रवीर्य अभी तक अवि-
वाहित है । उसी के लिए मैं कन्या-हरण करने आया हूँ ।

काशिराज—परन्तु स्वयंवर के नियम-विरुद्ध आप ऐसा न
कर सकेंगे ।

सब—हम सब लोग काशिराज की कन्याओं की रक्षा में
आज देवव्रत को दिखा देंगे कि हम लोग देवव्रत से बल में कम
नहीं हैं । हमारे होते हुए एक मल्लाह की लड़की के पुत्र से काशि-

पहला व्यक्ति—यदि अभी और जीने की इच्छा है तो चुप बैठकर गलित यौवन का तिरस्कार सहो ।

(सभा-स्थल में 'उठो, चलो, युद्ध करो' का कोलाहल होता है ।)

काशिराज—(उठकर) मान्य राजन्य वर्ग, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि कुछ व्यक्तियों द्वारा उठाया गया अप्रिय प्रसंग यहीं समाप्त होना चाहिए । आप लोग सम्पूर्ण देशों की प्रजा तथा उसके हृदयों को अपने वश में रखते हैं, क्या अपने को वश में नहीं रख सकते ? कृपा कर शान्त रहिये ।

(इसी समय भीमकाय बली पुरुष सभा-स्थल में प्रवेश करता है । कौन, कौन, भीष्म, देवव्रत, महाबली भीष्म की आवाजे उठती हैं । 'क्या यह भी विवाह करेंगे ? यौवन किसको प्रमत्त नहीं बना देता ?' 'सौन्दर्य ने किसकी प्रतिज्ञा को शिथिल नहीं करा दिया ?' 'चलो अच्छा है, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा ।')

सब—आइये, देवव्रतजी पधारिये । यहाँ बैठिये । यहाँ, यहाँ, यह आसन है ।

(हर्ष-ध्वनि : ठीक है, ठीक है; हम भी इसी उद्देश्य से आये हैं ।)

भीष्म—(राजा की ओर देखकर) महाराज, क्षत्रियों में स्वयंवर बल की परीक्षा के लिए होता है । मैं आज उसी बल का प्रदर्शन करके आपकी उन तीनों कन्याओं को लेने आया हूँ ।

काशिराज—आइये प्रतापी देवव्रत, आपके दर्शन से हमारी सभा सनाथ हुई ।

विदूषक—आज संसार ने समझ लिया कि सौन्दर्य की

होकर गिर पड़ते हैं ।)

सब—महाराज काशिराज ! शक्ति-भर लड़ने पर भी हमारा कोई बस न चला । अब क्या हो सकता है ?

काशिराज—राजागण ! आप लोग ज़ाइए । जब आप लोगों से कुछ न हो सका तो भला मैं ही अकेला क्या कर सकता हूँ ? (सब अपना-सा मुँह लिये चले जाते हैं ।) आह, आज वह अशुभ स्वप्न सफल हुआ ।

विदूषक—हाँ महाराज, आज वह स्वप्न सफल हुआ । हमारे सब प्रयत्न निष्फल...

काशिराज—स्वप्न कभी मिथ्या नहीं होता विदूषक !

विदूषक—हाँ, स्वप्न कब मिथ्या हो सकता है महाराज !

काशिराज—यह मेरा ही अपमान नहीं हुआ, भारत के सभी क्षत्रियों का अपमान हुआ है ।

विदूषक—हाँ महाराज, आपका ही अपमान नहीं हुआ, भारत के सभी क्षत्रियों का अपमान हुआ है ।

काशिराज—तुझे हँसी सूझी है ब्राह्मण ! दुष्ट, मेरी ही बातों को दुहराता है ! जा, चला जा यहाँ से । मैं तो अपने दुःख में जल रहा हूँ । (स्वयं जाते हुए) जिसका डर था वही हुआ । मेरी भोली-भाली कन्याओं का अपहरण ! ओह, अशक्त हूँ । मैं अपनी सारी शक्ति से भी उनकी रक्षा न कर सका । मेरे सब सहायक भी कुछ न कर सके ।

(चला जाता है ।)

राज की कन्याएँ विवाह नहीं कर सकतीं देवव्रत !

विदूषक—मल्लाह की लड़की के पुत्र से काशिराज की कन्याओं का ब्याह ! क्या केवट के कुनवे वालों के मुँह में तुलसी-दल और गंगाजल डाल दिया गया ?

भीष्म—इसीलिए मेरे भाई को इस स्वयंवर में निमन्त्रित नहीं किया गया कि वह माता सत्यवती का पुत्र है। आज भीष्म आप लोगों के इसी पाप का प्रायश्चित्त करेगा। शान्तनु-पुत्र आज आपको दिखा देगा कि वह इन कन्याओं को सब लोगों के सामने से किस प्रकार उठाकर ले जा सकता है। पराक्रम ही क्षत्रिय का सबसे बड़ा मूल्य है। आज उसी का प्रदर्शन करके मैं इन तीनों कन्याओं को लिये जाता हूँ।

काशिराज—यह अत्यन्त अनुचित है। स्वयंवर में विघ्न डालना एक प्रसिद्ध राजपुत्र को शोभा नहीं देता।

भीष्म—हाँ ठोक है, प्रसिद्ध राजपुत्र के भाई को स्वयंवर में निमन्त्रण न भेजकर उसके वंश की अवज्ञा करना तो एक राजा को खूब शोभा देता है !

(भीष्म तीनों कन्याओं को बलपूर्वक उठाकर बाहर खड़े रथ पर बिठाने लगते हैं ।)

सब राजा—आओ, हम सब लोग मिलकर इस आततायी देवव्रत को उसके किये का दण्ड दें।

(वहीं सब राजा भीष्म पर टूट पड़ते हैं। अकेले भीष्म सबको हराकर अपना रथ आगे बढ़ा ले जाते हैं और सब राजा लोग हताश और घायल

हृदय की प्रत्येक धड़कन को पराई इच्छाओं की भेंट चढ़ा दिया है और तुम भी अन्धे हो जो आँख का तिनका निकालने के लिए शहतीर खोजते हो ।

बुद्ध०—तुमने ठीक कहा भाई, ठीक कहा । (जाता है ।)

विदूषक—ठीक तो कहा ही है । परन्तु सदा से मेरे ठीक कहते रहने पर भी परिणाम गलत ही हुआ है । इस 'ठीक' का कोई मापदण्ड नहीं है । तेज़ी से दौड़ते हुए रथ पर बैठकर देखने से आसपास की वस्तुएँ भी दौड़ती हुई दिखाई देती हैं, परन्तु वह ठीक नहीं है । अपने रथ का दौड़ना ही ठीक है । बुद्धि एक को ठीक मानती है, परन्तु आँखें दूसरे को । इसीलिए तो उस बूढ़े राजा ने कहा कि आँखें रहते हुए भी मैं अन्धा हूँ । मैं भी तो आज तक अन्धा बना रहा हूँ । चलो शायद किसी जगह मेरी आँखों का इलाज हो सके ।

(जाता है ।)

(पट-परिवर्तन)

पाँचवाँ दृश्य

(माता सत्यवती अपने महल में)

सत्यवती—भीष्म सुधी भी है और बली भी । भीष्म ने ही मेरे एक-मात्र पुत्र की मर्यादा रखी, अन्यथा मल्लाह की लड़की के पुत्र को कौन राजपुत्री वरण करती ? भीष्म, तुम धन्य हो । छम-छम करती दो बहुएँ आ गईं । कितना सुन्दर नाम है !

विदूषक—हत्तरी विदूषकी की ! दिन-रात हँसी ! जी हँस रहा हो तो भी रोना ही पड़ता है । भला पूछो, स्वयंवर न हुआ अपहरण हुआ । आखिर इन कन्याओं का विवाह तो हो ही गया । इसमें रोने की क्या बात है ? जो मनुष्य इतना बली हो कि पचासों चरकटे राजा और स्वयं महाराज भी जिसका सामना न कर सकें, यदि उसके वंश में उन कन्याओं का विवाह हुआ तो इसमें बुराई ही क्या हो गई ? दासता जीवन में सबसे बड़ा अभि-शाप है । दूसरे की इच्छा के अनुसार नाचना ही तो दासता है । किन्तु मैंने तो हृदय का सुख, वाणी का सौन्दर्य देकर यह दासता मोल ली । बदले में क्या मिला—तिरस्कार, जिसका प्रवाह मनुष्य के संसार से बाहर है । (खीझकर चलने लगता है ।)

(इसी तरह वृद्धश्रवा अपनी धुन में विदूषक से टकरा जाता है ।)

वृद्ध०—तुझे दीखता नहीं है क्या ?

विदूषक—किन्तु तुम्हें दीख पड़ता है, इसमें ही क्या प्रमाण है ?

वृद्ध०—अरे, तो क्या मैं अन्धा हूँ ? मूर्ख, महाराज वृद्धश्रवा को अन्धा कहता है । किन्तु ठीक, मैं तो अन्धा ही हूँ । अन्धा न होता तो एक रानी के रहते दूसरी की खोज में यहाँ क्यों आता ? मैं अन्धा ही हूँ भाई ।

विदूषक—आँखें होते हुए भी संसार में अन्धे अधिक हैं । मैं भी अन्धा हूँ और तुम भी अन्धे हो । मैंने दासता के मोल पर अपनी आँख, कान, नाक सभी इन्द्रियों को बेच डाला है । अपने

आग में जले ।

सत्यवती—(मौन रहकर) आह यदि उस विद्रोह में आग होती ! बेटा, भैया ने तुम्हारे साथ जो उपकार किया है क्या तुम उसे भूल गए ?

विचित्रवीर्य—सब भूल गया हूँ । कुछ भी याद नहीं है । मैं संसार में धूमकेतु की तरह हूँ, जिसके पैदा होते ही उत्पात होते हैं । अग्नि का काम जलाना है । यदि पेट की आग को भोजन न मिले तो वह भी शरीर को ही खाती है । खाना उसका काम है ।

(अम्बा का प्रवेश)

सत्यवती—आओ बेटी, सुना है तुमने स्वयंवर से पूर्व ही सौभराज को वरण कर लिया था । इसी से विचित्रवीर्य ने तुम्हारे साथ व्याह.....। यदि तुम चाहो तो.....।

(अम्बा—(रोप के साथ) सत्यवती, यदि मेरी अवस्था में तुम होती तो जानती कि मेरा कितना अपमान....., (ओठ फड़कने लगते हैं ।) तुम्हारे अविवेकी पुत्र ने मेरा और मेरे भावी पति....।
(क्रोध से कॉपने लगती है ।)

सत्यवती—शोक है कि तुम्हारी अवस्था को पुत्र भीष्म न जान पाए ।

अम्बा—बल का घमण्ड करने वालों के आँखें नहीं होती सत्यवती ! उनका विवेक अन्धा होता है । उनका कर्तव्य आँधी के समान है जिसमें धूल के कणों के सिवा और कुछ भी नहीं है ।

अम्बिका और अम्बालिका । पर मेरे पुत्र को जैसे कोई प्रसन्नता ही नहीं हुई । उसके भाग्याकाश में चिन्ता और शोक के काले बादल छाये रहते हैं । न...न, रोग न हटेगा । इस जीवन में धुआँ-ही-धुआँ है, प्रकाश नहीं । परन्तु इससे क्या ? धुआँ ही गरमी का चिह्न है । आज नहीं तो कल प्रकाश होगा ही ।

(विचित्रवीर्य का प्रवेश)

विचित्र०—माता, तुम धन्य हो । भैया के प्रेम और तुम्हारे आशीर्वाद से कुछ दिन जी रहा हूँ, अन्यथा अब तक—

सत्यवती—(सिर पर हाथ फेरती हुई) बेटा, ऐसा क्यों कहते हो । दुनिया सुख खोजती है और तुम सुख में उदासी खोज रहे हो बेटा ! कैसी सुन्दर बहुएँ हैं !

विचित्र०—हाँ माँ, सुन्दर हैं और भोली भी ।

सत्यवती—क्या तुम्हारा जी उनसे नहीं बहलता ?

विचित्र०—हाँ, बहलता तो है ।

सत्यवती—तुम उदास क्यों रहते हो बेटा ? भीष्म-सा जिसका भाई हो, अम्बालिका और अम्बिका जैसी जिसकी सुन्दर दो बहुएँ हों उसे उदास रहने की आवश्यकता ?

विचित्र०—(कुछ सोचकर) सत्यवती जैसी जिसकी माता हो उसे उदास रहना ही चाहिए ।

सत्यवती—व्यंग्य है व्यंग्य ।

विचित्र०—सब-कुछ हो सकता है । माँ, पिता के प्रति तुम्हारे विद्रोह की अग्नि में मैं जल रहा हूँ । भाई चित्राङ्गद भी उसी

तीसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—सौभ नरेश शाल्व का निजी स्थान

शाल्व—बड़ा अपमान हुआ मन्त्री, बड़ा अनादर ।

मन्त्री—बड़ा अपमान महाराज, घोर अपमान । आपके देखते-देखते भीष्म कन्याओं को भरी सभा से छीन ले गए । परन्तु इससे क्या ? हमने अपनी करनी में कोई कसर तो नहीं छोड़ी ।

शाल्व—जी जल रहा है । उफ, क्या-से-क्या हो गया । आह, ग्रीष्म ऋतु में शीतल जल के फव्वारे के समान उल्लास पैदा करने वाली मधुकणों-सी स्वच्छ अम्बा से मादकता के कोश का सदा के लिए वियोग हो गया । बसन्त के बजाय ग्रीष्म आ गया । जलूँगा, इसी जलन में हृदय की गति का अन्त होगा ।

(अम्बा का प्रवेश)

अम्बा—प्रतीक्षा के फड़फड़ाते हुए पंखों से उभरने वाले प्रिय-तम, अम्बा का प्रणाम स्वीकार करो नाथ !

शाल्व—(चौंकर) हैं, यह क्या ? अम्बा, तुम कहाँ ? कहीं मेरे कान धोखा तो नहीं दे रहे ? आँखों की पुतलियों को चंचलता ने कहीं चौंधिया तो नहीं दिया ? तुम आ गईं । प्रिये !

सत्यवती—समझ गई, पुत्री ! तुमने मेरी आँखें फिर खोल दीं, दबी हुई आग फिर भड़का दी। मद के आवेग के सामने विवेक कभी नहीं ठहरा बेटी ! मैं सब समझती हूँ।

विचित्र०—फिर वही ! वही तो देख रहा हूँ। सब साफ है। क्या अब भी कुछ समझना बाकी है...।

(आवेश में आकर बेहोश हो जाता है ।)

सत्यवती—हाय मेरे पुत्र, (उसके ऊपर गिर जाती है। विक्षिप्त-सी होकर अम्बा से) जाओ, बेटी जाओ, जहाँ तुम्हारे सींग समाएँ वहाँ जाओ। यहाँ न रहो। मैं पगली हो जाऊँगी। जाओ, जाओ, चली जाओ। उफ, प्राण घुटे जा रहे हैं।

(बेहोश हो जाती है ।)

अम्बा—महारानी, जलो, इसी प्रकार जलो, पाप-पर-पाप करने वाले की पत्नी ! अविवेक की आँधी में बहने वाले की माता ! जलो। तुम भी जलो और मैं भी जलूँ—(जाती है।)

(पट-परिवर्तन)

मान किया है। शाल्व, वे दिन कहाँ गए जब तुम मेरे लिए सिंह की दाढ़ों में सीने की प्रतिज्ञा कर रहे थे ! मेरे लिए संसार छोड़ देना चाहते थे ! मेरे पैर में लगे हुए काँटों को आँखों से निकालना चाहते थे ! जीवन के ध्येय में सबसे मुख्य स्थान मेरा था ! किन्तु नहीं, अम्बा सब-कुछ समझ गई। ऐश्वर्य, पद, मर्यादा का आडम्बर रचने वाले मनुष्य ! सहस्रों सूर्यों के उज्ज्वल और प्रचण्ड प्रकाश में हजारों शपथ लेने पर भी तुम्हारा विश्वास नहीं किया जा सकता। मनुष्यत्व के तुच्छ वैभव के सामने स्त्री की इतनी अवहेलना ? संसार ! तू स्थिर क्यों है ? आकाश के तारे नित्य गिरकर अपशकुन की सूचना देते हैं, परन्तु इतनी क्रूर मनुष्य-जाति का उसने अब तक नाश क्यों नहीं किया ?

शाल्व—स्त्री जाओ, विवेक और वीरता की दोनों आँखों से जगत् को वश में करने वाली पुरुष-जाति किसी भी तुम्हारे जैसी के बहकाने में नहीं आ सकती। द्वारपाल ! इस पागल स्त्री को यहाँ से निकाल दो।

अम्बा—निकाल दो, निकाल दो, मैं स्वयं जाती हूँ। मैं पागल हूँ पागल। मैं अबला हूँ, अकिञ्चन हूँ, मेरी बिसात ही क्या ? पुरुष की आँखों के इशारों पर नाचने वाली दीन स्त्री की शक्ति ही क्या ? विश्वनायक, तुम देख रहे हो ? तुम भी क्यों देखोगे ? पुरुष रूप में रहने वाले परात्पर, तुम्हें मेरी क्या परवाह ? नहीं, मैं किसी की शरण न लूँगी। मैं पागल हूँ भैरवी, तेरा

तुम भीष्म के वज्र के समान कठोर पंजों से मुक्त होकर कैसे आ गई ? मेरे हृदय की गति, बोलो । (आलिंगन को हाथ बढ़ाता है ।)
 नहीं, ठहरो, (कुछ सोचकर) तुम उच्छिष्ट हो । आकाश से मैले बर्तन में गिरी हुई अमृत की बूँदें भी पीने योग्य नहीं होती ।
स्त्री ही संसार में एक ऐसा पदार्थ है जो एक बार, केवल एक बार, स्पर्श किया जाता है । तुम जाओ ।

अम्बा—महाराज शाल्व, मेरा विवाह नहीं हुआ । देवव्रत ने यह जानकर कि मैंने पूर्व ही शाल्वराज को अपना पति चुन लिया है, मुझे तुम्हारे पास आने की आज्ञा दे दी । मैं अभी तक... (उत्सुकता से देखती है ।)

शाल्व—सब-कुछ ठीक होते हुए भी क्षत्रिय जूठन नहीं खाते । एक के लिए हरी गई कन्या को शाल्व कभी ग्रहण न करेगा । जाओ, तुम्हारे लिए उपयुक्त वर विचित्रवीर्य ही है, हम नहीं ।

अम्बा—राजन्, मैं मन से आपको पति वरण कर चुकी हूँ । अब मुझे दर-दर भटकाकर मेरा और अपमान न कीजिए ।

विदूषक—(हँसकर) स्त्रियों का मानापमान ही क्या ? अहह, अबला का मान ही क्या और अपमान.....)

शाल्व—अम्बा, तुम जाओ, अपना रास्ता पकड़ो ।

अम्बा—(क्रोध से) स्त्रियों का मानापमान क्या ! पुरुष समाज की इतनी धृष्टता ! स्त्रियों के सौन्दर्य की काई पर फिसलने वाली पुरुष-जाति ने आज से नहीं सदा से स्त्रियों का अप-

तुम समभोगे अविवेकी राजा ! (बाहर हो जाती है ।)

सब—बड़ी भयंकर है ।

शाल्व—बड़ी मीठी भी ।

(भौंचक्के होकर बैठे रहते हैं ।)

(पट-परिवर्तन)

दूसरा दृश्य

(अस्त-व्यस्त दशा में अम्बा एक दिशा की ओर बड़े वेग से जाती हुई)

अम्बा—यह संसार साँप के समान है और मैं उसकी छोड़ी हुई केंचुल हूँ । निःशक्त, निःसहाय अबैला । पुरुष की घृणा, अभिमानी का तिरस्कार । मनुष्यता का पतन । इतना अभिमान ! राजमद का इतना घमण्ड ! शाल्व ! नीच शाल्व ! सौन्दर्य के दीपक पर जल मरने वाले पतंगे ! रूढ़ियों के दास ! जाने दो, इसमें उसका दोष ही क्या है ? सब दोष मेरा है, मेरा । मेरा दोष है । पर मैंने क्या किया ? इसमें मेरा क्या वश था ? जाने दो इन बातों को । प्रेम वासना की आँखें पोंछने के लिए बनाया गया है । वासना स्वार्थ की सखी है । मेरा इसमें क्या दोष है ? सब अपराध भीष्म, क्रूर भीष्म का है, जिसने ब्रह्मचर्य के शिखर पर खड़े होकर आत्म-गौरव को उकसाते हुए मुझे नीचे, ठीक नीचे, अपमान की खाई में धकेल दिया है । कहीं भी कोई

खप्पर क्यों खाली है ? इन ढोंगी नरमुण्डों से एक बार अपना खप्पर भर । जाती हूँ । शाल्व, मैं पागल हूँ । तुम देखोगे इस स्त्री-जाति के अपमान से ही तुम राजा लोगों का, नहीं नहीं, समूचे भारत का नाश होगा । मैं जाती हूँ । रण की अग्नि की चिनगारी में चटचटाते नरमुण्डों को देखकर ही मुझे सन्तोष होगा । जाती हूँ । किन्तु जाती हुई एक बार, हाँ एक बार, तुमसे कहे देती हूँ कि इसी मान-अपमान के नरक में, क्षत्रियत्व की अविवेक-भरी आग में, इस पापी समाज का अनन्त काल के लिए नाश होगा । वीरता और विवेक की आँखों से देखने का छूँछा आडम्बर रचने वाली क्षत्रिय जाति को सुदूर भविष्य में दास, निष्ठुर दास, बनना होगा । मैं जाती हूँ । मैं पागल हूँ ।
पागल—पागल—

(जाती है ।)

सब—(सन्नाटे में आकर) क्या कह गई, कुछ समझ में नहीं आया ?

(अम्बा लौटकर)

अम्बा—समझ में नहीं आया ! समझोगे, उस दिन समझोगे जब इस क्षत्रियत्व के मद में एक-दूसरे पर अविश्वास होगा । राज-वैभव की काली आँधी में किनकियों के समान तुम्हारा क्षत्रियत्व कराल काल के पर्वतों से टकराकर चूर-चूर होगा । जब रक्त से सने हुए अभिमानी राजमुण्डों के बटवारे के लिए गिद्धों, चीलों और भूतों के न्याय-शास्त्र खुलेंगे, उस दिन

तीसरा दृश्य

(अम्बिका और अम्बालिका बाग में टहल रही हैं ।)

अम्बालिका—आजकल चारों ओर वसन्त है—सुघड़ वसन्त ।

अम्बिका—सब ओर पीलापन है । सब ओर वसन्त का अलहड़पन है । आम में बौर निकला है । सरसों फूल उठी है । कैसा है वसन्त ! संसार जगमगा उठा है ।

अम्बालिका—और हमारे लिए ?

अम्बिका—सूना, सब-कुछ सूना । मुर्दनी रंग का पीला, जिसमें श्वास नहीं है । राजा बीमार हैं ।

अम्बालिका—आम के बौर की सुगन्ध से नाचती हुई कोयल की कूक !

अम्बिका—विष के बुभे हुए तीर-सी ।

अम्बालिका—फूल पर मँडराते, गुनगुनाते हुए भौरों का आलाप !

अम्बिका—हरे-भरे घाव पर विच्छू के डंक के समान । हमारे लिए यह वसन्त है ।

अम्बालिका—यह शिशिर है शिशिर ! राजा बीमार हैं !

अम्बिका—हाँ राजा बीमार हैं । उनकी आँखें आँसुओं से डबडवाई रहती हैं ।

अम्बालिका—हृदय किसी अज्ञात चिन्ता से भरा रहता है ।

सहारा नहीं है। आश्रय टूट गया। दरिद्री के भाग्य की तरह ठोकरें खा रही हूँ। कहीं किनारा नहीं।

(बेचैन होकर गाती है ।)

किसने कली को छेड़कर
मादक पवन चला दिया
क्यों गुनगुना के कान में यौवन ने गीत गा दिया।
मैं अपने आपे में थी भली
अपने सुखों में थी पली
पापी पवन ने तोड़कर रज में मसल मिला दिया।
आशाएँ पिस गईं इधर
नैराश्य हँस रहा उधर
जीवन की धुँधली आग हूँ रज ने जिसे बुझा दिया।
यौवन की सुग्ध श्वास में
ज़हरीली वायु चल रही
जग ने जलन की खाक को हँस-हँस मेरी उड़ा दिया।

ओह, (कुछ सोचकर) यह क्या ? लोग कर्तव्य-कर्तव्य चिन्ताते हैं। क्या मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है ? नहीं, मैं भी कुछ कर सकती हूँ। पर जाऊँ कहाँ ? भीष्म के पास, नहीं, भीष्म के पास नहीं जाऊँगी। याद आ गया, इस समय भीष्म को हराने वाले एक ही मनुष्य हैं, वह हैं परशुराम। यदि मैं उनमें क्रोध उत्पन्न कर सकूँ, यदि अपनी करुण कथा से उन्हें द्रवित कर सकूँ तो अवश्य मेरी इच्छा—प्रतिहिंसा.....। चलो ।

(जाती है ।)

(पट-परिवर्तन)

महल भाँय-भाँय करते हैं। सब तरफ सूना है।

अम्बालिका—यह कैसी मर्यादा है ?

अम्बिका—यही तो समाज की मर्यादा है। असमर्थ रोगी पुरुषों के विवाह के लिए एक नहीं, तीन-तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो क्या है ? यह राज्य की पदवी, मर्यादा की रक्षा है बहन ! संसार सदा बल की अन्धी आँखों से देखता आया है। विवेक केवल चिल्लाने की वस्तु है, जो पदार्थ जैसा दीखता है वह ठीक वैसा ही नहीं होता। हमारे समाज का महल स्वार्थ की नींव पर बना है। उस समाज की रक्षा के साधन धन, रूप और बल हैं।

अम्बालिका—एक के दोष को तुम समूचे समाज पर नहीं मढ़ सकती बहन ! समाज संसार की उन्नति का साधन है, बिगाड़ का नहीं।

अम्बिका—जब इतने विवेकी पुरुष, जो समाज के आदर्श हैं, भूल करते हैं तो बाकी कौन रहा जो इसकी रक्षा करेगा ?

अम्बालिका—यह बल का व्यर्थ घमण्ड है।

अम्बिका—नहीं, यही परम्परा है, सुनती हूँ सदा-यौवना सासू जी को राजा के बूढ़े पिता ने वरण किया और थोड़े दिन बाद मर गए। हमारा भी यही...

अम्बालिका—चुप, हमें पति के प्रति कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है !

अम्बिका—यह हमारा अधिकार किसने छीन लिया, समाज

अम्बिका—सासू जी भी दुखी हैं। भला कैसी लगती हैं। क्या तुम्हें कोई उपमा नहीं सूझती ?

अम्बालिका—सूझती तो है।

अम्बिका—क्या ?

अम्बालिका—पूर्णमासी के चाँद पर पुती हुई कालोंच (प्रहण) की तरह उनका चेहरा है।

अम्बिका—कुछ-कुछ ठीक है, और बड़े दादा।

अम्बालिका—वह बड़े महात्मा हैं।

अम्बिका—बड़े वीर। उनका चेहरा भी बासी खरबूजे और पाल के आम की तरह पिलपिला हो रहा है।

अम्बालिका—क्यों, उन्हें क्या हुआ ?

अम्बिका—बहन को हर लाने के कारण। वह समझते हैं अम्बा के साथ अन्याय हुआ। वह शाल्व के साथ ब्याह करना चाहती थी, उसे हर लाकर उन्होंने अच्छा नहीं किया।

अम्बालिका—और बहन का क्या हुआ ?

अम्बिका—सुना है शाल्व ने उसके साथ विवाह नहीं किया।

अम्बालिका—यह तो बड़ी बुरी खबर है। अब वह कहाँ जायँगी। हाथ, आग के सिर पर रहने वाले धुएँ की तरह उनका जीवन चिन्ता, बेचैनी और विषाद का घर बन गया है। शाल्व, दुष्ट शाल्व ने उन्हें कहीं का न रखा।

(अम्बिका—हम ही कहाँ सुखी हैं ? राजा बीमार हैं) सासू जी उदास रहती हैं। बड़े दादा (भीष्म) गुम-सुम बने रहते हैं।

प्रतिहारी—जो आज्ञा । (जाता है ।)

विचित्र०—(कुछ संज्ञा प्राप्त करके) मैं उदासी के उदर से पीड़ित आशा का परिवार लेकर संसार में आया । आज उन्हें यहीं·····छोड़कर·····इस संसार से·····जाता हूँ । जीवन·····का·····अवसान····· । प्रलय·····की·····रा·····तू·····रि । (श्वास बन्द हो जाता है ।)

सत्यवती—हा, सब-कुछ समाप्त·····(चेतनाहीन होकर पुत्र के ऊपर गिर पड़ती है । अम्बिका और अम्बालिका रोने लगती हैं ।)

(भीष्म का प्रवेश)

भीष्म—अरे, यह क्या, राजा की यह दशा ! मेरे पापों का फल ! मेरे मूक कर्मों का परिणाम ! सब-कुछ सहूँगा । धैर्य की आँखों पर पट्टी बाँधकर, सन्तोष की दूटी हुई बैसाखी हाथ में लेकर, अब चलना होगा । हे भगवान् !

(पट-परिवर्तन)

चौथा दृश्य

(भीष्म और परशुराम का संवाद, अम्बा एक ओर खड़ी है ।)

परशुराम—तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि तुमने अविवेक से अम्बा का हरण किया ।

ने ही तो ? मैं तो कहती हूँ, हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हैं। आत्म-समर्पण हमारा धर्म बना दिया गया है। इस अनूठे धर्म ने हमारी अभिलाषाओं की सदा से हत्या की है, बहन !

अम्बालिका—चुप, देखो सासू जी आ रही हैं।

(सत्यवती का प्रवेश)

सत्यवती—चुप मत रहो बेटी ! चुप रहने की आवश्यकता भी नहीं। जिस पाप ने मेरा नाश किया, मैंने स्नेह और अज्ञान के वश फिर वही पाप किया, केवल इस दुष्ट समाज की मर्यादा के लिए। न, तुम चुप मत रहो।

(विचित्रवीर्य लड़खड़ाता हुआ आकर एक आसन पर लेट जाता है।)

विचित्र०—भोगना पड़ेगा तो भोगे। मैं भी तो भोग रहा हूँ, भोगूँगा, आजीवन भोगूँगा। मेरे संसार में प्रेम था ही कब ? मेरे यहाँ तो इस संसार के सुख का प्रकाश भी मेरी उसाँसों के धुएँ से मैला हो गया। मैंने तो हृदय में उमंग की भूमिका बँधने पर केवल संसार को 'प्रेम' ऐसा गुनगुनाते पाया है।

सत्यवती—ओह, इसमें तुम्हारा क्या दोष है बेटा, सब दोष मेरा है ! तुम तो बीमार थे। यहाँ क्यों चले आए ?

विचित्र०—मैं भी तो तेरा ही दोष हूँ माँ, पिता का दोष हूँ—रोगी, काहिल, उदास। विधाता का... (बेहोश हो जाता है।)

सत्यवती—(दौड़कर) क्या हुआ बेटा, कैसी तबियत है ?
(हाथ फेरती हुई) अरे कोई है, (प्रतिहारी आता है।) वैद्य को बुलाओ, भीष्म को बुलाओ।

परशुराम—भीष्म, तुझे अभिमान हो गया है। मैं युद्ध के बिना तुझे न छोड़ूँगा। आ, युद्ध कर !

भीष्म—हा, यह भी देखना शेष था। गुरु से युद्ध ! एक तरफ प्रण और दूसरी तरफ गुरु की आज्ञा। नहीं महाराज, मैं क्षत्रिय हूँ, युद्ध करूँगा। युद्ध ही क्षत्रिय का असली रूप है। एक पाप और सही। अपराध की पोटलियों में यही एक बाकी था। परन्तु मैं क्षत्रिय हूँ। मुझे युद्ध करना ही होगा। निमन्त्रण पाने पर काल से भी लड़ना क्षत्रिय का धर्म है।

परशुराम—आज धर्म-धर्म चिल्लाते तुझे लज्जा नहीं आती। एक निरपराध कन्या का अपहरण करके उसका सर्वनाश करने के समय यह धर्म कहाँ गया था ? आ, युद्ध कर !

भीष्म—आइये गुरुवर ! (दोनों युद्ध करते हैं ।)

अम्बा—धर्म का बल और घमण्ड से युद्ध हो रहा है। सुदूर क्षितिज में आशाओं का मन्दिर रह-रहकर गगनचुम्बी बनता जा रहा है। पर यह क्या, भीष्म के तीखे बाणों से महात्मा परशुराम मूर्च्छित हो गए ! अरे, उन्होंने भीष्म से हार मान ली ! पाप, तूने सदा से धर्म पर विजय पाई है ! क्या बस, इतना ही ?

(स्वयं मूर्च्छित हो जाती है ।)

भीष्म—गुरुदेव, अपराध क्षमा हो। मेरे तीखे बाणों ने गुरु-देव के शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया ! हा !!

परशुराम—(चेतना प्राप्त करके) जाओ पुत्र, तुम अजेय हो।

भीष्म—मानता हूँ गुरुवर ! मेरा अज्ञान ही मेरी अन्त्य दुर्निचिता का कारण है ।

परशुराम—फिर तुम अम्बा के साथ विवाह करके उस पाप का प्रायश्चित्त क्यों नहीं करते ?

भीष्म—मैं ब्रह्मचारी हूँ देव !

परशुराम—शिष्य भीष्म, तुम्हारे अज्ञान से एक नारी का जीवन भस्म हुआ जा रहा है ।

भीष्म—विवश हूँ नाथ ! मुझे दण्ड दीजिए ।

परशुराम—मेरी आज्ञा है कि तुम उस नारी से विवाह करो और शान्तनु के वंश को चलाओ । माता सत्यवती को इसमें कोई आपत्ति न होगी ।

भीष्म—प्रतिज्ञा भंग होगी । भीष्म संसार के सब अपराधों की गठरी सिर पर वहन कर सकता है, केवल प्रण नहीं छोड़ सकता । प्रतिज्ञा एक बार ही की जाती है ।

परशुराम—तुम्हें मेरी आज्ञा का पालन करना होगा ।

भीष्म—विवश हूँ, क्षमा चाहता हूँ ।

परशुराम—(क्रोध से) क्षमा ! क्षमा करना तो मैं सीखा ही नहीं हूँ भीष्म ! इस मेरे कुठार ने क्षमा तो सीखा ही नहीं । तुम्हें मेरे साथ युद्ध करना होगा, युद्ध । क्षत्रियकुलांगार, युद्ध करो । (शस्त्र उठाते हैं ।)

भीष्म—गुरुदेव, मैं आपका शिष्य हूँ, मुझसे युद्ध न हो सकेगा । मैं हार मानता हूँ । मुझे क्षमा कीजिए ।

(क्रोध में यह उद्गार निकलते हैं—)

शेष की अशेष फुङ्कार का प्रहार लिये,
 रुद्र रणचण्डी की भीषणता धारूँगी ।
 धाराधर, भूधर, धरा की वह्नियाँ समेट,
 कम्प, हड़कम्प फैला अरि को उजारूँगी ॥
 रुद्र के तृतीय नेत्र-ज्वाल-सी प्रचण्ड बन,
 चण्ड यमदण्ड-सी करालता पसारूँगी ।
 उतारूँगी धरा पै ध्रुव धूमकेतु खींच-खींच,
 व्रती देवव्रत को मैं व्रत कर मारूँगी ॥

इस जीवन में नहीं तो दूसरे में, दूसरे में नहीं तो तीसरे में । जाओ, हा, अबला हूँ इसी से कुछ न कर सकी । मैं कोमल हूँ, इसी से प्रचण्ड पवन ने मुझे भ्रूकभ्रोर दिया ।

(एक ओर चली जाती है ।)

(पट-परिवर्तन)

पाँचवाँ दृश्य

(दीन-मलीन वेश में अम्बिका और अम्बालिका एक जगह बैठी बातें कर रही हैं ।)

अम्बालिका—बहन, अब हम विधवा हैं ।

अम्बिका—समाज की कलंक हैं । जीती हुई भी मरी हुई हैं ।

तुम्हारी कष्ट-सहिष्णुता, तुम्हारी दृढ़ता अपूर्व है, इसलिए संसार में तुम अजेय हो। जाओ, मेरा कुठार तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

भीष्म—(हाथ जोड़कर) गुरुदेव, हा ! आज मुझे अपने गुरु से भी युद्ध करना पड़ा। हे धर्म, तू बड़ा बलवान है। कर्तव्य की उत्ताल तरंगों पर नाचने वाले प्राणी को समय का प्रवाह कब कहाँ ले जाय यह जानना अत्यन्त कठिन है। (जाते हैं।)

(पीठ फेरकर और देखकर)

परशुराम—अवसर चूकने पर पछतावे जैसी दीन स्त्री, मैं तुम्हारी आशा पूरी न कर सका। परशुराम का बल शस्त्र ही था। इस शस्त्र के प्रभाव से मैंने त्रिलोकी को जीता, किन्तु आज उस शस्त्र से मैं एक कन्या की इच्छा पूरी न कर सका। जाओ, महादेव की तपस्या करो। वे ही तुम्हें भीष्म से बदला लेने योग्य बना सकेंगे।

अम्बा—प्रभुवर, मेरे भाग्य की कड़ियाँ टूटी हुई हैं। मेरी आत्मा का हाहाकार अधूरा है। मेरे दुःखों की घटा में बिजली नहीं है। जाओ, प्रभु जाओ। मैं प्रलय की अग्नि में अपने को जलाऊँगी और जब तक भीष्म से उसका बदला न लूँगी, जलती ही रहूँगी। मैं मृत्यु से विनाश, रुद्र से संहारी अट्टहास, काल से क्रोध, विद्युत से उप्रता बटोरकर अग्नि के समान स्वयं जलकर उसे जलाऊँगी।

होकर अबला को फँसाने के लिए ही इस समाज का निर्माण किया है।

अम्बालिका—स्त्री ने उस समाज-निर्माण में भाग क्यों नहीं लिया वहन ?

अम्बिका—निर्वलता के कारण। अनादि काल से पुरुष में स्त्री के प्रति तुच्छता का विचार रहा है। सभ्यता के उत्कर्ष में भी स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा नहीं हुआ।

अम्बालिका—यही कारण है वहन ! अम्बा पर-पुरुष द्वारा स्पर्श किये जाने-मात्र से अशुद्ध, अस्पृश्य और कुलटा हो गई, किन्तु राज्य के किसी भी तपोनिष्ठ महर्षि ने बड़े दादा का हाथ पकड़कर उनसे नहीं पूछा कि यह तुमने क्या किया ?

अम्बिका—इस पर भी वह विवेकी, कर्तव्यनिष्ठ, विद्वान् और ब्रह्मचारी हैं, क्षत्रिय हैं।

अम्बालिका—शाल्व से किसी ने कुछ नहीं कहा।

अम्बिका—वह भी धर्मात्मा है, श्रेष्ठकुलोत्पन्न है।

अम्बालिका—ठीक है, इसीलिए स्त्री को अन्धे, रोगी, कोढ़ी पति के प्रति कुछ भी कहने का अधिकार नहीं। क्या तू देख नहीं रही, आजकल हम सासूजी को एक आँख नहीं भाती ? वह कहती हैं—ऐसी दुष्टा हैं, आते ही पति को खा गईं, मानो हम राजसी हैं।

अम्बिका—सुनती हूँ, बड़े दादा से महात्मा परशुराम हार गए।

अम्बालिका—इसलिए कि राजा मर गए ?

अम्बिका—इसलिए कि हम पति के आश्रित थीं, वही नहीं हैं । >

अम्बालिका—और बहन ?

< अम्बिका—परित्यक्ता, अनादृता । सुखों का यही परिणाम है । कोमल, सुगन्धित कुसुम का अन्त मिट्टी है । मृत्यु संसार का ब्रह्मपुत्र है, जहाँ सब विचारधाराएँ, सारे आत्म-विश्वास, समूची कल्पनाएँ शान्त और लीन हो जाती हैं । वहाँ न समाज के बन्धन हैं न उसके आदर्श ।

अम्बालिका—मैं तो देखती हूँ कि पिता के घर से यहाँ आकर मुझमें कुछ भी अन्तर न पड़ा ।

अम्बिका—अवस्था का भेद है बहन ! पहले हम कन्या थीं और अब विधवा । समाज का दूसरा नाम बन्धन ही तो है ? समाज के भीतर एक बार प्रवेश करने पर अछूती रहते हुए भी वक्रदृष्टि से ताकने वाले उसके नियमों ने हमारा रूप और नाम बदल दिया ? >

< अम्बालिका—इस समाज को किसने बनाया ?

अम्बिका—पुरुष ने । मकड़ी मक्खियों को फँसाने के लिए जाला बुनती है और अपने-आप भी उसमें घिरकर बैठ जाती है । यह सब कोई जानता है कि जाला मकड़ी का अनिष्ट नहीं कर सकता किन्तु कदाचित् ही कोई मक्खी आज तक उससे बचकर निकली हो । इसी तरह यह बलवान पुरुष है । उसने स्वयं प्रविष्ट

अम्बिका—काँटा बूँदों के बोझ को न सँभाल सका, वे दोनों मिलकर ज़मीन पर आ गिरीं और प्यासी पृथ्वी ने उन्हें पी लिया ।

अम्बालिका—बस, यह अन्तिम बात ही शेष है ।

अम्बिका—हाँ, अन्तिम बात ही शेष है । इतना ही तो जीवन है । काल की आँखें बड़ी तीव्र हैं, वह दूर-दूर से अपना शिकार ढूँढ़कर लाता है । सब ओर उसका क्षितिज है । जहाँ चाहे वहाँ घटनाओं को मिलाकर नवीनता उत्पन्न कर देता है । बस, इतने से हो इसका नाम संसार है । चलो, सासूजी आती होंगी ।

(दोनों जाती हैं ।)

(पट-परिवर्तन)

छठा दृश्य

स्थान—गंगा के किनारे का तपोवन

(अम्बा घोर तप में मग्न है ।)

अम्बा—(धीरे-धीरे आँख खोलकर अँगड़ाई लेती हुई) क्या अब भी कुछ नहीं ? विराट् की तन्त्रियों में कोई भी भनकार नहीं ? ब्रह्माण्ड के हृदय-पिएड से निकलने वाले फुफ्फुस में कोई श्वास नहीं ? वेदना के पदों में कोई कराह नहीं ? नहीं, अभी पूर्ण नहीं हुआ । साधना अधूरी है...

अम्बालिका—कैसे ?

अम्बिका—उन्होंने बहन का पत्त लेकर भीष्म से युद्ध किया था, किन्तु वह हार गए। अब बहन शिव की कठिन तपस्या कर रही हैं। इस वंश की कुशल नहीं दीखती। हम समाज और होनहार के हाथों की कठपुतली हैं। होगा सो देखेंगी। ‘न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति !’

अम्बिका—हम विधवा है इसी से, किन्तु बहन को क्या हो गया है, वह इस तरह इस कुल के पीछे क्यों पड़ी हैं ?

अम्बालिका—न मालूम, कुछ भी तो दिखाई नहीं देता।

अम्बिका—चारों तरफ अँधेरा है। ऊपर प्रलय के जलद हैं और नीचे भूकम्प की अस्थिर गड़गड़ाहट है। सब ओर सन्नाटा है। कहीं भी कुछ नहीं है। तुझे याद है उस दिन मैंने तुमसे तपस्वी की एक कहानी कही थी।

अम्बालिका—किस दिन ?

अम्बिका—काली रात थी, आकाश में बादल छा रहे थे।

अम्बालिका—याद तो नहीं आती।

अम्बिका—टप-टप करके दो बूँदें आकाश से गिरीं।

अम्बालिका—गिरी होंगी—मुझे याद नहीं।

अम्बिका—पहले दोनों फूल पर गिरीं, फिर काँटे पर लुढ़क पड़ीं।

अम्बालिका—कुछ याद तो आता है। तुमने कहा था। हाँ फिर ?

से उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। दूसरे जन्म में शिखण्डी बनकर तू भीष्म का नाश कर सकेगी। तुझे अपनी प्रतिज्ञा दूसरे शरीर में भी याद रहेगी।

अम्बा—तथास्तु, प्रभो, यही मेरी उपासना का लक्ष्य है, यही साधना का फल है। मैं कृतकृत्य हूँ नाथ! प्रतिहिंसे ?

(शिव अन्तर्हित हो जाते हैं ।)

तू तमोगुण की नीची सीढ़ी है सही, किन्तु मनुष्यता का असली दर्प है। तू निन्दित होती हुई भी अनिन्द्य है। उफ! यह क्या, जब मेरी साधना इस शरीर से पूर्ण नहीं होगी, तब अम्बा यह शरीर धारण ही क्यों करे? नहीं, अब मैं नहीं जी सकती। अम्बा, अब इस धुँधले आकाश में, इस विपैले पवन में, असफलता पर ठठाकर हँसती हुई इन तारिकाओं में अम्बा और नहीं जी सकती। जीना कठिन है। असफलता से मृत्यु हजार बार अच्छी है। मैं मरूँगी और भीष्म की मृत्यु के लिए मरूँगी। मृत्यु के लिए मृत्यु।

(एक ओर चली जाती है। नेपथ्य में जोर से किसी के नदी में गिरने का शब्द सुनाई देता है, दूसरी ओर से दो साधुओं का प्रवेश होता है ।)

पहला—आवाज किधर से आई ?

दूसरा—हाँ ठीक, इधर से कोई गिरा है, पर दीखता तो नहीं।

पहला—अभी पकड़कर लाता हूँ। (एक साधु उधर चला जाता है ।)

(शिव का प्रादुर्भाव)

शिव—बेटी अम्बा, मैं तेरी साधना से प्रसन्न हूँ। तेरे कठोर तप के प्रभाव से मेरा आसन डगमगा उठा है। बोल, क्या चाहती है ?

अम्बा—धूर्जटि, मेरी केवल एक ही इच्छा है और वह है जगत्-प्रसिद्ध देवव्रत का नाश। महारुद्र, मैं केवल—केवल यही चाहती हूँ।

शिव—बेटी, तेरी साधना के बल पर मैं तुझे संसार की सम्पत्ति दे सकता हूँ, ऐश्वर्य के विशालतम प्रदेश का तुझे स्वामी बना सकता हूँ, कल्याण और विलास के हिमालय पर बिठा सकता हूँ, परन्तु संसार की प्रवृत्ति तामस है। साधन का फल तामस नहीं होना चाहिए। और कुछ माँगो बेटी !

अम्बा—अपने जीवन के ध्येय में, अपने हृदय की अशान्ति में, ऐश्वर्य के ऊँचे शिखर पर बैठकर भी मैं अपने प्रतिद्वन्द्वी भीष्म का नाश ही संसार की सबसे ऊँची सफलता समझती हूँ, वही माँगती हूँ नाथ !

शिव—(कुछ सोचकर) किन्तु तुझे यह सफलता इस जन्म में प्राप्त नहीं हो सकती।

अम्बा—न सही इस जन्म में, दूसरे में सही, अपने करोड़ों जन्मों में भी ऐश्वर्य के सामने भीष्म का ही नाश मुझे अच्छा लगता है। क्या आप देंगे ?

शिव—दूँगा, अवश्य दूँगा। (कुछ सोचकर) तू इस शरीर

तू यहाँ कैसे ? आह ! याद आ गया, वह बड़ा अशुभ स्वप्न था । आज उसी स्वप्न का परिणाम तो देख रही हूँ । अब मेरे जीवन का अन्त... (बेहोश हो जाती है ।)

पहला—भाग्य की बलिहारी है । सिर पर चढ़ाने योग्य फूल पेरोँ तले कुचला गया । मणि मार्ग के पत्थरों में मिल गई ।

दूसरा—अम्बा, जिसे भीष्म हर लाये थे ?

पहला—हाँ, जिसे भीष्म हर लाये थे ।

दूसरा—जिसके लिए महर्षि परशुराम ने भीष्म से भयानक युद्ध किया था । हाय, बेचारी की यह दशा !

अम्बा—(चेतना प्राप्त करके) हाँ, वही अम्बा ! अत्याचारों की कन्था अम्बा, किन्तु नहीं, यह दीपक.....अब बुझना ही चाहता है । बुझ...बुझ...भीष्म...की...मृत्यु...मृत्यु । (फिर एक बार) मेरी मृत्यु से शत्रु...शत्रु की मृत्यु...अच्छा यही हो... स्वप्न का परिणाम...अच्छा...।

(प्राण-त्याग कर देती है ।)

पहला—मर गई । इसका जीवन कितना दुःखपूर्ण था ! मैंने सदा से सवेरे को साँझ की ओर बढ़ते देखा है; पर साँझ उसी सवेरे की ओर दौड़ती कभी न देख पड़ी; क्योंकि रात का महासागर संध्या को पीता रहता है । चलो इससे क्या, आँसू भी तो गिरकर हृदय की जलन को भूल जाते हैं ।

दूसरा—अच्छा !

(पट-परिवर्तन)

दूसरा—हमें संसार से क्या लेना-देना है ? फिर भी डूबते को बचाना हमारा धर्म है ! हाय, कैसा बुरा है ! (पहला एक स्त्री के शरीर को लेकर प्रवेश करता है ।)

दूसरा—यह तो स्त्री है भाई ?

पहला—(भूमि पर रखता हुआ) कोई दुखिया है ! अवस्था भी थोड़ी मालूम हातो है । (ध्यान से देखते हुए) अभी-अभी गिरने के कारण शरीर में पूरा-पूरा पानी नहीं भरा है ! यत्न करने पर जी-सकती है । परन्तु मैंने तो इसे कहीं..... (उल्टा टोंगकर जल निकालते हैं ।)

दूसरा—(शरीर की गति टटोलकर) श्वास बहुत धीमा है, शायद-बल जाय !

अम्बा—(धीरे-धीरे चैतन्य होकर) ओह ! बड़ी पीड़ा है, परन्तु भीष्म की मृत्यु के सामने.....कुछ भी.....नहीं—कुछ भी नहीं.....(उन दोनों की ओर देखकर) तुम दोनों कौन हो..... भाई ?

पहला—अब होश आ गया ! अरे, यह तो काशिराज की कन्या है ! बहन, तुम यहाँ कैसे-?

दूसरा—क्यों जी, तुम इसे कैसे जानते हो ?

पहला—मैं कभी महाराज काशिराज का विदूषक था ।

अम्बा—नहीं, मैं जी नहीं सकती, जी नहीं सकती । मैं मनुष्य का उपहास, दर्प की तुच्छता, हृदय की बेहोशी, अम्बा हूँ । मैं जीना नहीं चाहती । (ध्यान से देखकर) अरे, विदूषक !

युधिष्ठिर—निरपराध भीष्म को क्या हुआ महाराज ? क्या यह ठीक है कि सत्य को हमेशा हारते और असत्य को विजयी होते देखा है ? (श्रीकृष्ण से) यह क्या है ?

व्यास—काशिराज की कन्या अम्बा की प्रतिहिंसा का फल भीष्म को भोगना पड़ रहा है। तुम्हारी ही तो लीला है। एक स्त्री के अनादर का फल यह महाभारत हुआ और दूसरी स्त्री के अनादर का फल है भीष्म की मृत्यु।

भीष्म—सब-कुछ सही है। मैं ही अन्धा था। बस, अब और नहीं। (चेतन होकर) आप सब लोग बैठे हैं।

सब—महात्मा भीष्म को बड़ा कष्ट है।

व्यास—गोविन्द, सबको तुम्हारे ही नियमों का पालन करना होता है ! तुम किसी के साथ रियायत नहीं करते। बस, अब महात्मा का अन्त समय है।

भीष्म—गोविन्द, समझा, सब समझा। अम्बा ने मुझसे, मेरे वंश से पूरा बदला लिया। एक स्त्री के अनादर का परिणाम देश का नाश हुआ। और दूसरी...जाता हूँ...जाता हूँ..... गोविन्द...चरण...कमल...दो....। जब इच्छा हो तब तुम इस दीप को बुझा दो, मैं तुम्हारे अन्धकार को प्यार करूँगा। (प्राण-त्याग कर देते हैं।)

(शिखण्डी के वेश में अम्बा का प्रवेश)

अम्बा—हो गया, सब-कुछ हो गया। यही चाहती थी, आहाहा—और कुछ भी नहीं चाहिए। भीष्म, उस दिन मेरा

सातवाँ दृश्य

(महाभारत के युद्ध के बाद भीष्म मृत्यु-शैया पर पड़े हैं । श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर आदि उनके पास बैठे हैं ।)

भीष्म—(एकाएक) है यह क्या ! सारा दृश्य सामने आ रहा है ! हटो, हटो, काशिराज, यदि तुममें बल हो तो रोको, भीष्म इन सबके देखते-देखते इन तीनों कन्याओं को हर लिये जाता है । (मृत्यु-शय्या से उठने की चेष्टा करते हुए)

श्रीकृष्ण—नाथ, लेटे रहिये !

युधिष्ठिर—महात्मा भीष्म को यह क्या हो गया, कुछ समझ नहीं पड़ता !

भीष्म—अच्छा, तुम जाओ, जाओ । मैं यही चाहता हूँ । लाल-लाल आँखें क्यों दिखाती हो ? मैं जानता हूँ मेरा अपराध है । रहने दो, मैं अपने-आप जल रहा हूँ । मैं क्या करूँ ? तुम्हीं बताओ, मैं ब्रह्मचारी हूँ । उफ़, मुझे और मत जलाओ, मत जलाओ । यह शरीर जला जा रहा है । रहने दो । क्या कहा ? तुमने मुझे मारने की प्रतिज्ञा की है ? शिव का वरदान है ? अच्छा मैं मरूँगा, मरूँगा ।

(व्यास का प्रवेश । श्री कृष्णादि सब लोग उनका सत्कार करते हैं । उनके बैठने पर)

श्रीकृष्ण—महाराज, धर्मात्मा भीष्म की आज यह क्या अवस्था है ?

छोटा-सा संसार जला था और आज मेरा क्रोध जल रहा है ।
आहा हा... ।

(सब लोग देखते हैं कि शिखण्डी धीरे-धीरे, पुरुष-वेश छोड़कर स्त्री-वेश में आ रहा है । वैसे ही विकराल नेत्र, वैसा ही क्रोध, प्रतिहिंसा से उसका सुन्दर शरीर पेंठ रहा है ।)

(और प्रसन्नता से पागल होकर बेसुध होकर गिर पड़ती है ।)

अर्जुन—(दोनों हाथ जोड़कर और खड़े होकर) यह क्या, क्या यही अम्बा है ? आज उसकी चिन्तन-साधना पूरी हुई । क्या यह सब वही हो रहा है ? प्रभो ! आपके नियम बड़े प्रबल हैं ।

श्रीकृष्ण—

कर्मणोऽपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

सब—प्रभो ! ठीक है । (सब कृष्ण के चरणों में गिर जाते हैं ।)

(पट-परिवर्तन)